जनवरी - जून २००३

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

कहानियां

राजीव सिंह

सुधीर अग्निहोत्री

डॉ. किसलय पंचोली

डॉ. विवेक द्विवेदी

जयनारायण

उर्मिल गुप्ता

उत्तम कांबले

रामनाथ शिवेंद्र

आमने-सामने
रामनाथ शिवेंद्र

सागर-सीपी
लवलीन

१५ रुपये

'डॉ. अरविंद' : वैज्ञानिक व रचनाकार

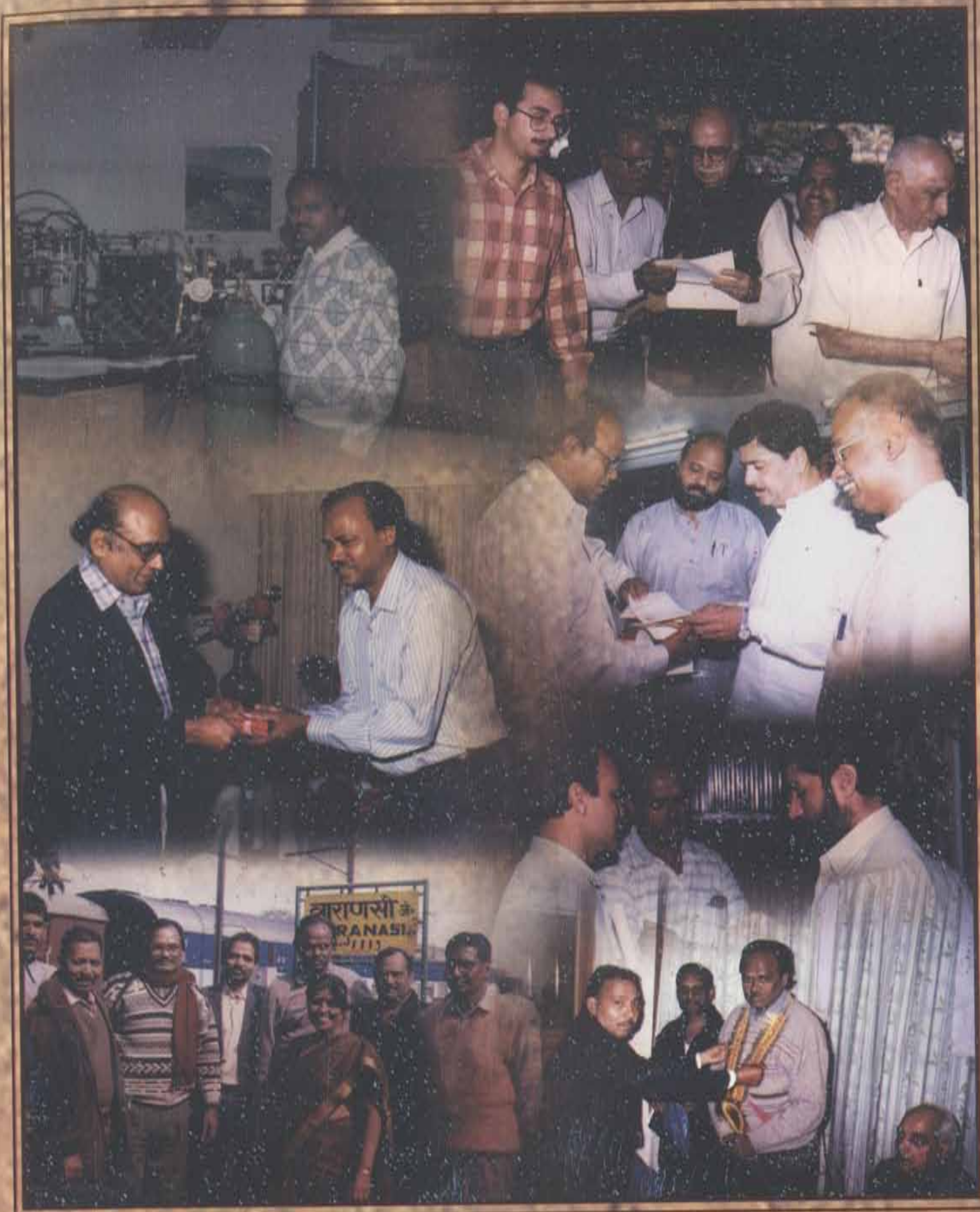

जनवरी - जून २००३
(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद'

संपादिका
मंजुश्री

संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
देवमणि पांडेय
जय प्रकाश त्रिपाठी
अशोक वशिष्ठ

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

● सदस्यता शुल्क ●

आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.
वार्षिक : ५० रु.
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
विदेश में (समुद्री डाक से)
वार्षिक : १५ डॉलर या १२ पौंड

कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर), मनीऑर्डर, डिमान्ड ड्राफ्ट, पोस्टल ऑर्डर द्वारा केवल 'कथाबिंब' के नाम ही भेजें.

● संपर्क ●

ए-१० 'बसेरा,'
ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८
फोन : २५५१ ५५४१ व २५५५ ५८२२
टैलीफैक्स : २५५५ २३४८
e-mail: kathabimb@yahoo.com

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु
१५ रु. के डाक टिकट भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

|| ५ || चंद्र-ग्रहण / राजीव सिंह
|| ८ || रावलपिंडी एक्सप्रेस / सुधीर अग्निहोत्री
|| ११ || बिटिया / डॉ. किसलय पंचोली
|| १४ || जानवर और आदमी / डॉ. विवेक द्विवेदी
|| १८ || उर्मिला की आंखों में / जयनारायण
|| २१ || गुलदस्ते / उर्मिल गुप्ता
|| २४ || मनी ऑर्डर/ उत्तम कांबळे
|| ३१ || नामांतरण / रामनाथ शिवेंद्र

लघुकथाएं

|| २० || लौटते कदम / देवेंद्र गो. होलकर
|| २३ || खुशबू / डॉ. सुरेंद्र गुप्त
|| ३० || कवि का गीत / हबीब कैफ़ी
|| ५१ || आक्रोश / संजय कुमार आर्य

गीत / ग़ज़लें / कविताएं

|| ४७ || गीत / रामानुज त्रिपाठी
|| ४९ || समय / राजपाल यादव
|| ४९ || दीपक / दीप प्रकाश
|| ४९ || ग़ज़ल / केशव शरण
|| ५० || हां, वह चांद ! / हरे प्रकाश उपाध्याय
|| ५० || चाहत / डॉ. रिशू टंडन
|| ५१ || नयी सहस्त्राब्दी का सच / श्रीरंग
|| ५१ || ग़ज़ल / कृष्ण सुकुमार

स्तंभ

|| २ || लेटरबॉक्स
|| ४ || 'कुछ कही, कुछ अनकही'
|| ३५ || आमने-सामने / रामनाथ शिवेंद्र
|| ३८ || सागर-सीपी / लवलीन
|| ४१ || पुस्तक-समीक्षाएं

विशेष आलेख

|| २७ || 'भारत में भारत को खोजिए' / डॉ. अरविंद

लेटर बॉक्स

❀ "कथाबिंब" (अक्तू-दिसं. २००२) मिला. पत्रिका में समाहित उत्कृष्ट कहानियां, गीत, ग़ज़ल, कविताएं, लघुकथाएं एवं समीक्षाओं के साथ समग्र साहित्यिक सामग्री पठनीय एवं संग्रहणीय है. इसमें कोई संदेह नहीं रहा कि "कथाबिंब" आपके संपादन में साहित्य-संस्कृति की खुशबू चारों ओर बिखेर रही है. प्रतिष्ठित साहित्यकारों के साथ नवोदित रचनाकारों को "कथाबिंब" से जोड़ने का प्रयास साहसिक एवं सराहनीय कदम है. यह तो तय है कि पत्रिका में समाहित साहित्य, दर्पण बनकर पाठक वर्ग को प्रतिबिंबित अवश्य करेगा.

✤ लालजी राकेश

एस. ई./२३१, छ. रा. वि. म. कॉलोनी,
कोष्ठा (पूर्व) ४९५६७७ (छत्तीसगढ़)

❀ अक्तू-दिसं. २००२ का अंक प्राप्त हुआ. पत्रिका पढ़ने पर आपके श्रम का अंदाजा होता है. अंक की सभी कहानियां अच्छी लगीं. आजकल ए. असफल और उर्मिला शिरीष दोनों ही निरंतर अच्छा लिख रहे हैं.

संपादकीय में अच्छी कहानी के मापदंड के बारे में आपने लिखा है. दिल्ली से शुरू हुई नयी पत्रिका 'कला साहित्य' (फरवरी-अप्रैल २००३) में मेरा एक लंबा साक्षात्कार छपा है जो कमलेश भट्ट 'कमल' ने लिया है. उसमें मैंने इस विषय पर कहा है कि अच्छी कहानी वह है, जो शुरू तो लेखक की कलम से होती है मगर समाप्त पाठक के अंदर होती है. 'क्लोज्ड एंड' वाली कहानियों के मुकाबले 'ओपन एंड' वाली कहानियां ही ज्यादा याद की जाती हैं. प्रेमचंद की 'कफ़न' एक बड़ी मिसाल है. 'कथाबिंब' शीघ्र ही २५ वर्ष पूरे करेगा. मेरी मंगलकामनाएं.

✤ विजय

११५ बी, पॉकिट जे एंड के,
दिलशाद गार्डन, दिल्ली ११००९५,

❀ 'कथाबिंब' का अक्तूबर-दिसंबर २००२ अंक मिला. आभार एवं अंतर्मन से बधाई !

'कथाबिंब' का प्रत्येक अंक बरबस 'सारिका' की याद ताज़ा करा जाता है. समकालीन 'हंस' एवं 'संचेतना' भी नज़र में हैं ही. अलावे कई अन्य कहानी-केंद्रित अन्य पत्रिकाएं भी. 'कथाबिंब' स्वयं में विशिष्ट कोटि की पत्रिका लगती है. पाठक-समूह पत्रिका में रस-परिवर्तन की भी कांक्षा रखते ही हैं.

क्यों नहीं प्रत्येक अंक में कुछ रचनाएं मानक स्वरूप पूर्व के सुप्रसिद्ध कथाकारों एवं कवियों की भी रहें. साथ ही विदेशी लेखकों एवं कवियों की अनुदित रचनाएं भी हिंदी में आती रहें.

किसी मुद्दे विशेष पर बहस का भी नियमित स्तंभ कायम हो. समकालीन साहित्यिक दशा-दिशा पर, किसी समस्यामूलक पक्ष पर या विधा-विशेष पर आदि-आदि. इससे आकर्षण और भी बढ़ जा सकता है.

✤ डॉ. वीरेंद्र कुमार बसु

एल. के. कॉलेज. सीतामढ़ी (बिहार) ८४३३०२

'कथाबिंब' का अक्तूबर-दिसंबर अंक प्राप्त हुआ. आभारी हूं, स्नेह के प्रति. पत्रिका के चौबीसवें वर्ष में प्रवेश हेतु बधाई तथा अविरल प्रकाशन हेतु हार्दिक शुभकामनाएं. पत्रिका को इस शिखर तक पहुंचाने में आपका साहस श्रम और समर्पण प्रणम्य है. इसी के चलते 'कथाबिंब' ने कथाक्षेत्र में एक मजूबत पहचान बनाई है. अंक में संपादकीय, आमने-सामने पठनीय हैं. लघुकथाएं प्रभावी हैं. कहानियों में डॉ. उर्मिला शिरीष तथा श्रीनाथ जी की कहानियां विशेष अच्छी लगीं. हां ग़ज़लें निराश करती हैं. चांद शेरी के अतिरिक्त अन्य सभी ग़ज़लें 'कथाबिंब' के लायक नहीं हैं तथा अशुद्धियों का शिकार हैं. कृपया ऐसी ग़ज़लें छापने से बचें.

✤ राजेंद्र तिवारी,

'तपोवन', ३८-बी, गोविंद नगर, कानपुर २०८००६.

'कथाबिंब' की एक प्रति मिली. पढ़कर खुशी हुई. हालांकि यह अंक 'अक्तूबर-दिसंबर ०२' का है परंतु रचनाएं आज भी प्रासंगिक हैं. श्रीनाथ और डॉ. उर्मिला की कहानियां आज की तनावयुक्त जीवन शैली की कई समस्याओं पर ध्यान खींचती कहानियां में से लगीं. 'अशेष अंकुर' कविता (डॉ. विद्याभूषण) की जीजीविषा व रमेश कटारिया की ग़ज़ल की बेबाकी ने प्रभावित किया. पत्रिका की सुंदर छपाई, बढ़िया कागज और रचना को उचित स्थान पर सजाने की कला ने सराहने को बाध्य किया.

✤ अनिल शंकर झा

शिक्षक, नवयुग विद्यालय,
राधारानी सिन्हा रोड, भागलपुर, बिहार.

'कथाबिंब' निरंतर मिल रहा है. आपकी पत्रिका ने अपना एक कीर्तिमान स्थापित कर लिया है. कलकत्ते के साहित्यकार मित्र आपकी पत्रिका की प्रशंसा करते हैं एवं उसमें छपने के लिए उत्सुक रहते हैं. आपकी पत्रिका को मेरी हार्दिक शुभकामनाएं.

✤ विजय शंकर विकुज

सहसंपादक - 'उपहार' (छपते-छपते),
२६-सी, क्रीक रो, कोलकाता ७०००१४.

'कथाबिंब' का नया अंक मिला. इस बार कथा जगत की दो-तीन पीढ़ियों को एक साथ देखकर बेहद खुशी हुई. इसमें अंतर्निहित यह भाव अधिक महत्वपूर्ण है कि "कथाबिंब" से जुड़ना, उसकी पहचान तथा कथाजगत में विशिष्ट स्थान को गहरे से समझना है. तय है, इसकी पृष्ठभूमि में आपकी निष्ठा, समर्पण तथा साहित्य जगत से निरंतर संपर्कित रहने की लालसा मौजूद है. कहानियों के अलावा उर्मिला शिरीष का आत्ममंथन उसकी प्रस्तुति की वज़ह से प्रभावित करने की क्षमता रखता है. वैसे उर्मिलाजी के जीवन की यह तो पहली कड़ी है, उन्हें अभी तो न जाने कितने एपिसोड लिखने होंगे.

लघुकथाएं, कविताएं तथा ग़ज़ल भी लगभग ठीक हैं. "कथाबिंब" की 'पुस्तक चर्चा' प्रायः बातचीत का विषय बनती है, इसका कारण चाहे कुछ पुस्तकों पर बात हो, पर वह समग्र तथा प्रभावी होती है, चालू नहीं.

तय है पत्रिका का यह समग्र संयोजन स्वरुप अधिक ऊंचाइयां प्राप्त करेगा.

यह जानकर अच्छा लगा कि, मेरी कहानी 'लखमी संग...' को 'कथाबिंब' के पाठकों ने सराहा मधुदीप ने भी इस कहानी की प्रशंसा करते हुए, संग्रह प्रकाशित की योजना बनने पर संग्रह-शीर्षक का प्रस्ताव किया है. मेरे पास इस बार कुछ व्यक्तिगत स्तर पर अपरिचित मित्रों के पत्र प्राप्त हुए हैं, उनमें उल्लेखनीय हैं - श्याम सखा (रोहतक), सुधीर अग्निहोत्री (इलाहाबाद), अमर स्नेह (मुंबई), विषपायी (नीमच) तो एक पोस्टकार्ड लिखने बैठे तो चार पेज़ की चिट्ठी पर ख़तम हुए.

गोविंद सेन की आपत्ति का ज़बाब दिया जा सकता है. किंतु उनका यह पत्र बदनीयती का सबूत है, इसलिए उन्हें कुछ लिखना बेकार है. इस पत्र के पीछे उनकी मंशा नीर-क्षीर टिप्पणी करना नहीं पत्रिका के संपादक तथा पाठकों के बीच, येनकेन मेरी छवि धूमिल करना है. इस क्षेत्र के उन लोगों में ये श्रीमन भी शामिल हैं, जिनकी लेखकीय क्षमता को निखारने तथा ऊर्जा प्रदान करने में मैंने वर्षों सहयोग दिया है. आज की शारीरिक-स्थिति के बावजूद, मैं जो निरंतर लेखन कर रहा हूं उसको देखकर कुछ लोग आपकी हाल ही में, 'नई दुनिया' में प्रकाशित कहानी 'आदमी मरता क्यों नहीं ?' के नैरेटर की तरह सोचते या विमर्श करते रहते हैं कि, इसकी कलम चल क्यों रही है. पर मुझे इनकी इसलिए चिंता नहीं है कि, मेरी चिंता करने वाले आप जैसे मेरे कई हितैषी शहर या क्षेत्र में भले ही नहीं हो, पूरे देश में मौजूद हैं.

शेष यथावत है, वही मौजमस्ती आपकी कहानी के कथानायक की तरह.

✣ डॉ. सतीश दुबे
७६६, सुदामानगर, इंदौर-४५२ ००९

'कथाबिंब' का अंक मिला. संपादकीय में आपने अपने सारगर्भित विचार प्रस्तुत किये हैं. वर्तमान विश्व परिदृश्य और खाड़ी युद्ध, टॉवरों पर हमला आदि इक्कीसवीं सदी के बिखरते भविष्य के दृश्य को उजागर करते हैं. अमरीकी दादागीरी और भारत पर पाक के आतंकवादी हमले, अमरीका की घुसपैठ को प्रोत्साहित कर सकते हैं, इस दिशा में आज सोचना अपेक्षित है.

अंक की कहानियां 'धुरी' (श्रीनाथ), 'त्रिभुज' (असफल) एवं 'लौटते हुए' (शिरीष) विशेषतः प्रभावी हैं. ग़ज़ल/कविताएं मात्र पठनीय हैं. किंतु लघुकथाएं शिल्प एवं कथ्य की दृष्टि से बेजोड़ हैं.

✣ मदन मोहन 'उपेंद्र'
सं. 'सम्यक', ए-१०, शांति नगर, मथुरा २८१००१

'कथाबिंब' का अक्तूबर-दिसंबर का अंक मिला. बग़ैर किसी खेमेबाजी के आप 'कथाबिंब' में नये और स्थापित रचनाकारों की बेहतर रचनाएं छाप रहे हैं. यह सब आज के माहौल में बहुत सुकूनदायी है. मेरा मत है कि अन्य समकालीन पत्र-पत्रिकाओं को भी इस विषय में 'कथाबिंब' से प्रेरणा लेनी चाहिए. यह अंक भी बहुत अच्छा है.

✣ सुरेंद्र रघुवंशी,
महात्मा बाड़े के पीछे, अशोक नगर,
गुना (म. प्र.), ४७३३३१

'कथाबिंब' अक्तूबर-दिसंबर २००२ पूरा पढ़ गया. साहित्यिक प्रहरी के रुप में कथाबिंब का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है. सारी सामग्रियों का साहित्यानुरुप सुंदर समावेश है जो रुचिकर है - आपके संपादकीय 'कुछ कही कुछ अनकही' में आपने सब कुछ कह दिया है. अबाध गति से इस पत्रिका का संपादन होता रहे यह मेरी कामना है.

✣ चंद्र प्रकाश जगप्रिय
संपादक - उत्तरांगी, पुलिस इन्सपेक्टर,
टिकारी थाना, जिला-गया, बिहार-८२४२३६

'कथाबिंब' अक्तूबर-दिसंबर २००२ मिला. इस बार का मुखपृष्ठ बड़े ही कलात्मक रुप से संयोजा गया है. कृपया चित्रकार का नाम भी दिया करें. साहित्यिक सामग्री का तो कहना ही क्या ? 'कथाबिंब' हिंदी साहित्य की उत्कृष्ट पत्रिका में से एक है. इसका स्तर और भी ऊंचा उठे मेरी ऐसी कामना है. हम दोनों भाइयों का १४ वर्ष का कारावास ६ अगस्त को पूरा हो रहा है. आपसे मिलने की इच्छा है. देखिए कब पूरी होगी ?

✣ राजकुमार गुप्ता
पैठण, खुली जेल, नाथनगर, औरंगाबाद ४३१ १०८

कुछ कही, कुछ अनकही

बहुत ही विवश होकर, एक बार फिर संयुक्तांक निकालना पड़ रहा है. विज्ञापनों की कमी बराबर बनी हुई है. प्रकाशन व्यय का पचहत्तर प्रतिशत विज्ञापनों से ही पूरा होता है. 'कथाबिंब' संकट में है अतएव पाठकों / सदस्यों से अनुरोध है कि विज्ञापन दिलवाने में सहयोगी बनें.

●

इस बार प्रस्तुत हैं अपेक्षाकृत छोटी-छोटी आठ कहानियां. यह क्या किसी नयी प्रवृत्ति का संकेत है ! अथवा संयोग मात्र, यह कहना फिलहाल मुश्किल है. राजीव सिंह की कहानी 'चंद्र-ग्रहण' टीवी पर दिखाये जाने वाले मुकाबला कार्यक्रमों पर एक करारा व्यंग्य है - कि ये कार्यक्रम किस तरह एक आम आदमी के मन-मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं. अगली कहानी 'रावलपिंडी एक्सप्रेस' दोराहे पर खड़े भारतीय मुस्लिम समाज के विभ्रम को बख़ूबी बयान करती है. किसलय पंचोली की कहानी 'बिटिया' के नायक रज़ाक मियां के दिल में किसी प्रकार की उहापोह नहीं है. खोयी हुई बेटी सुख से है, यही उनके लिए काफ़ी है. यह बात दीगर है कि वह अब नज़मा नहीं, लक्ष्मी के नाम से जानी जाती है. 'जानवर और आदमी' के माध्यम से विवेक द्विवेदी कहना चाहते हैं कि एक बार धोखा आदमी दे सकता है पर जानवर नहीं. 'उर्मिला की आंखों में' भी एक छोटी कहानी है - गांव में आये बदलाव को देखते हुए अमर बाबू को लगता है कि उनकी पहचान कहीं खो गयी है. लेकिन एक छोटी लड़की, सुमन के पिता के रूप में उन्हें पहचान लेती है. 'गुलदस्ते' कहानी हंगेरियन परिवेश की कहानी है - कि वृद्धावस्था में कैसे अकेलापन जानलेवा हो सकता है. उत्तम कांबळे की मराठी कहानी 'मनीऑर्डर' भी कमोबेश उसी कथन को रेखांकित करती है, लेकिन ज़रा दूसरे ढंग से. रामनाथ शिवेंद्र की कहानी 'नामांतरण' में यह उजागर किया गया है कि कुछ तथाकथित साहित्यकार कैसे दूसरे की किताब अपने नाम से छपवा लेते हैं.

●

पिछले वर्ष, जनवरी-मार्च अंक के संपादकीय को पढ़कर 'शेष' पत्रिका के संपादक ज़नाब हसन जमाल ने तल्खी भरा एक ख़त भेजा था जिसमें लिखा था कि आइंदा उन्हें 'कथाबिंब' नहीं भेजी जाया करे. क्योंकि वैसे भी वे पत्रिका नहीं पढ़ते ! इसके उत्तर में मैंने उन्हें 'समाज-प्रवाह' में छपे पद्मश्री जनाब मुज़फ़्फ़र हुसैन के एक लेख और अपनी कहानी 'हिंदुस्तान/पाकिस्तान' की एक-एक प्रतिलिपि भेजी थी. साथ में एक पत्र भी था. यह कहानी १९७१ के युद्ध के बाद 'सारिका' में छपी थी और उसमें विभाजन की व्यर्थता की बात कही गयी थी. क्योंकि दोनों देशों की मिट्टी और जड़ें एक ही हैं. बहरहाल ! जमाल साहब ने बिना पढ़े सारी सामग्री एक नोट नत्थी करके वापस भेज दी थी कि वे यह सब नहीं पढ़ते. मुझे लगा कि कहीं कुछ ग़लत हो रहा है. उन्हें अंदाज़ नहीं हुआ होगा कि काग़ज़ों के बीच में ख़त भी था. फिर मैंने अलग से वह पत्र उन्हें दोबारा भेजा जो 'शेष' के अक्तूबर-दिसंबर २००२ अंक में उन्होंने 'शुतरमुर्गी प्रवृत्ति छोड़िए' शीर्षक से छापा (पृष्ठ-१६४). इसके अगले अंक में, मेरे छपे पत्र की प्रतिक्रिया के रूप में एक और ख़त जमाल भाई ने मेहरबानी करके प्रकाशित किया - इस सबके बीच हुआ यह कि मेरे पास 'शेष' आना बंद हो गया जबकि मैं उन्हें 'कथाबिंब' नियमित भेज रहा हूं. आज स्थिति यह है कि जो व्यक्ति बहुसंख्यकों की या राष्ट्रहित की बात करता है तो वह तुरंत संघी या भाजपाई हो जाता है किंतु यदि आप सिर्फ़ मुसलमानों (*अन्य अल्पसंख्यकों की नहीं*) की बात करें तो 'सेक्युलरिस्ट' !

आप संवाद ही नहीं करना चाहेंगे तो बात वहीं की वहीं रह जायेगी, 'दूसरों' के विचारों को बर्दाश्त करने का माद्दा रखिए. अपना माइंडसेट बदलिए तभी मुख्यधारा से जुड़ पायेंगे. हां, एक बात मैं हसन जमाल से पूछना चाहता हूं कि बीस अंकों तक पत्रिका आर्थिक संकटों से जूझ रही थी. अचानक क्या जादू हुआ कि आवरण चार रंगों में छपने लगा, पृष्ठ संख्या भी बढ़ गयी और अंक अवधि से पहले आने लग गये. कौन-सा कारू का ख़जाना हाथ लग गया, जमाल भाई ! मुझे नहीं तो पाठकों (?) को ही राज़दार बनायें कि सिर्फ़ दो या तीन विज्ञापनों की बिना पर आप कैसे 'शेष' मैनेज कर पा रहे हैं ?

●

इन दिनों 'बेस्ट बेकरी' फिर से सुर्खियों में है. पक्के सबूतों और बयानों के अभाव में २१ अभियुक्त बरी कर दिये गये हैं जो लगभग एक साल तक सलाखों के पीछे थे. ज़ाहिरा शेख के अलावा अनेक लोगों ने बयान दिया था और अभियुक्तों को क़ैदी बना कर रखा गया. बाद में सभी गवाह पलट गये तो न्यायाधीश के पास अभियुक्तों को छोड़ने के सिवा कोई रास्ता नहीं था. जो दोषी है उसे सज़ा ज़रूर मिलनी चाहिए पर उतना ही ज़रूरी है कि निर्दोष को सज़ा नहीं होनी चाहिए. आपकी संवेदनाएं मृतकों के प्रति अवश्य होनी चाहिए लेकिन इनमें से ग़र एक भी व्यक्ति निर्दोष है तो उसे एक साल क्या एक दिन भी क़ैद में रखना कौन-सा मानवाधिकार है ? न्यायाधीश का निर्णय आपके पक्ष में है तो ठीक नहीं तो उसे बदलने की गुहार मचाओ. मीठा-मीठा गपागप, तीखा-तीखा, थू-थू ! १९८४ के दंगों में तीन हज़ार लोग मारे गये, कितने गवाहों ने अपने बयान बदले ? कितने अभियुक्तों को सज़ा मिली ? मुंबई बम-विस्फोट के आरोपियों को अब तक क्यों सज़ा नहीं मिली ? इन मुद्दों को लेकर 'मानवाधिकार आयोग' का क्या कहना है ? रोज़ ही देश की विभिन्न न्यायपालिकाओं में हत्याओं, बलात्कार, चोरी-डकैती या और भी जघन्य मामलों में गवाही और सबूत के अभाव में अभियुक्त छोड़ दिये जाते हैं - पिछले दो-तीन दशकों में 'मानवाधिकार आयोग' ने ऐसे कितने मामलों को दोबारा खुलवाया है ? क्या यह 'राष्ट्रीय आयोग' महज़ एक ही अल्पसंख्यक समुदाय को अधिकार दिलाने के लिए प्रतिबद्ध है ?

(*कृपया शेष भाग पृष्ठ-५५ पर देखें*)

कहानी

चंद्र-ग्रहण

रेडियो जगदीप के एकांत क्षणों का अच्छा दोस्त था. उसे रोज़ शाम को समाचार सुनने की आदत भी थी. अच्छी बात है. देश के नेताओं को करोड़ों रुपयों के घोटालों में फंसा हुआ सुनकर उसे सच में दुख होता है. पार्टी के नाम पर धर्म के छोटे-बड़े गुटों को बनता देखकर उसे चिंता होती है. देश की बढ़ती आबादी को जानकर वह अंतर्मन में रोता है.

उसका दूसरा दोस्त विनोद है. जब से उसका 'छप्पर फाड़ के' कार्यक्रम में भाग लेने का चुनाव हुआ है, तभी से विनोद भी उसकी खुशी में भागी है. लेकिन एक मलाल उसे यह है कि जगदीप गोविंदा को बहुत समीप से देखेगा, उससे हाथ मिलायेगा, उससे बात तक करेगा, यहां तक कि गोविंदा को उसकी किसी बात की प्रशंसा भी करनी पड़ सकती है. वैसे तो विनोद जगदीप से हर क्षेत्र में बीस ही बैठता है, परंतु इस बार जगदीप उससे कई गुना आगे बढ़ जायेगा. जब वह कार्यक्रम से लौटकर आयेगा और बतायेगा कि उसने गोविंदा से या गोविंदा ने उससे इस-इस प्रकार की बातें कीं, तो वह पूरे मन से उस सब को सुनकर ग्रहण नहीं कर पायेगा. इसका कारण यही है कि विनोद उसे कई बार बता चुका है कि एक बार उसने सिनेमा की शूटिंग के दौरान चंकी पांडे को बहुत समीप से देखा था तथा चंकी पांडे ने उससे हाथ भी मिलाया था, उसका ऑटोग्राफ़ बतौर सबूत उसके पास है. हमारे देश में आम जनता का फ़िल्मी सितारों को देखना या उनसे हाथ मिलाना भाग्य के खुल जाने का शुभ संकेत माना जाता है.

जगदीप ने जब से गोविंदा की आवाज़ फ़ोन पर सुनी थी, उसी दिन से वह दूसरे आसमान पर उड़ने लगा था. उसे लगता था कि मानो छप्पर नहीं, आसमान फाड़कर कोई फरिश्ता उसके पास संदेश के लिए भेजा हो. वह दिन गिनने लगा था. वह दिन-रात कभी भी गोविंदा के सामने बैठ जाता, और गोविंदा की आवाज़ उसके कानों में गूंजने लगती थी - 'मेरे सामने बैठे हैं जगदीप जी, जो पेशे से अध्यापक हैं...'

उसके जन्म-साधकों को इस बात की कानों-कान ख़बर तक नहीं थी कि उनका सुपुत्र भविष्य की इन योजनाओं में जी रहा है. उन्हें तो उसके द्वारा अर्जित मासिक वेतन पंद्रह सौ पर संतुष्टि थी, जिसे वह बतौर, पास के पब्लिक स्कूल में, पढ़ाने पर तथा कुछेक सौ रुपये दो-चार ट्यूशनों द्वारा कमाता था.

जब से जगदीप के 'चांद' ने धोखा दिया है, तभी से भावनाएं ज्वार-भाटे की तरह उफ़नती-बैठती हैं. 'चांद' सच में एक धोखा भी हो सकता है, उसने सोचा भी नहीं था. कितने प्यार से नाम दिया था उसने - 'चांद', कोई पढ़े तो भी अनुमान नहीं लगा सकता कि किसी लैला की बात हो रही है, परंतु अब उसे वह कभी जाने-अनजाने देख लेता है तो वही दिया 'चांद' लू का सूरज लगता है, जो कलेजे पर गर्म तवे-सा एहसास देता है. वो दिन कितना मनहूस था जब उसने अपने चांद को दूसरे के संग मोटर साइकल पर पीछे बैठे देख लिया था. उसी दिन से सघन इच्छा ने आत्मा में कुंडली मार ली थी कि कभी न कभी वह भी मोटर साइकल ज़रूर खरीदेगा.

राजीव सिंह

उस दिन से तो उसकी उम्मीदों पर चार-चांद लग गये थे जब से उसने देखा था कि 'छप्पर फाड़ के' कार्यक्रम में मात्र एक रुपये में मोटर-साइकल भी मिलती है. शायद 'चांद' और मोटर-साइकल ने उसे कार्यक्रम में भाग लेने के लिए प्रेरित कर दिया था तथा वर्षों से उसकी सुप्त आत्मा का तीसरा नेत्र खुल गया था. अब उसने 'मनोहर कहानियां' तथा गुलशन नंदा के उपन्यासों को छोड़कर प्रश्नोत्री की उन पत्रिकाओं को चबाना शुरू कर दिया था जो उसे 'चांद' की बेरुखी से ठंडक दिलवाने में मदद कर सकें. विधवा या तलाकशुदा से विवाह कर लेने में 'चांद' का धोखा भी एक कारण था.

कई बार वह कल्पना कर चुका था कि गोविंदा उससे पूछ रहा है - 'बताइए, जगदीप जी, आप एक रुपये में कौन सी चीज़ लेना पसंद करेंगे ?' उसके सामने चार-पांच बड़ी कंपनियों के उत्पाद हैं. उसने सोच रखा है - ए.सी. लगाने की घर में ज़गह नहीं है, तथा ऐसी कोई आवश्यकता भी नहीं है, कंप्यूटर का उसके लिए कोई प्रयोजन नहीं, वॉशिंग मशीन मां प्रयोग नहीं करेगी, क्योंकि पिता और वह स्वयं तो स्नान के समय अपने कपड़े धो लेते हैं; माइक्रोवेव कुकिंग बिल्कुल वैसे ही साबित होगी, जैसे भांड के घर की मुंडेर पर मोर बैठ जाये. अब ले देकर बची है मोटर-साइकल. यही सबसे उपयुक्त है - दुनिया का सबसे सस्ता बाज़ार, जहां मात्र एक रुपये में वह मोटर-साइकल खरीद लेगा और उन लड़कों की तरह हो जायेगा जो सिगरेट पीने जैसा ही मोटर-साइकल चलाते-फिरते हैं. और फिर चांद जल मरेगी, पछतायेगी, यदि पुनः संबंध बनाना चाहेगी, तो साफ़ इंकार सुनेगी; उसे 'आवारा', 'कामुक', और 'बदचलन' जैसे संबोधन सुनने को मिल सकते हैं.

४ अगस्त १९६४, सुंदर नगर (हि. प्र.);
एम. ए. (हिंदी)
'कथाबिंब' के नियमित लेखक

जगदीप बिस्तर में लेटा है और गोविंदा उससे पूछ रहा है- "कहिए जगदीप जी, आपने इतने सामान में से मोटर-साइकल ही क्यों चुनी ?"

'मेरे पिता जी जब पेंशन लेने जाते हैं तो उन्हें बसों की भीड़ में काफी तकलीफ़ होती है. मैं मोटर-साइकल इसलिए ले रहा हूं कि इसके द्वारा मैं पिताजी को पेंशन के दफ़्तर तक आसानी से ले जाया करूंगा ताकि वह आराम पायें.'

कितनी बढ़िया सोच है आपकी. बहुत खूब. आज-कल माता-पिता की सेवा करने वाले कम दिखते हैं. बहुत-बहुत मुबारक हो जगदीप जी आपको मोटर-साइकल. भगवान करे आपके जैसी सोच वाला हर माता-पिता का बेटा हो.'

तालियों की गड़गड़ाहट के साथ अगले सवाल के लिए प्रस्थान...

जगदीप छत ताकता है, जिसमें पिछली भारी बरसात के कारण सीलन भर गयी थी, जिसके कारण दरार तथा बदरंग फैलाव पसर गया था. वह सोचने लगता है कि यदि बारह लाख जीत गया तो यह कमरा तुड़वाकर, पक्के बरामदे के साथ, नया बनवा देगा. पिता के जहाज़ में बैठने की इच्छा भी पूरी करवा देगा, यदि चाहेंगे तो जम्मू तक जहाज़ में, वहां से अमरनाथ यात्रा हो आयेंगे. मां के लिए डिश एंटेना तथा रंगीन टी.वी., कितना शौक है उन्हें हिंदी फिल्मों का.

विवाह के कितने ही रिश्ते आयेंगे. लेकिन वह सर्वगुण संपन्न लड़की से ही विवाह करेगा. चरित्र-हीन होने का जरा भी संदेह हुआ, तो इंकार कर देगा. दहेज नहीं लेगा, इस सामाजिक कुरीति के विरोध का एक स्तंभ बनकर दिखायेगा. कोई भी स्तरीय सरकारी नौकरी पाने के लिए दो लाख तक की पेशकश रखेगा. फिर जीवन सफल होगा - मोक्ष की प्राप्ति. इस प्रेतयोनी में तो उसे जीवन में अंधकार ही अंधकार दिखायी देता है.

पत्राचार द्वारा बी. ए. करते समय उसने 'दुनिया का सबसे सस्ता बाज़ार' के विषय में कहीं नहीं पढ़ा था, हालांकि अर्थशास्त्र विषय के रूप में चुना था. यह व्यवस्था कितनी अच्छी हो गयी है कि मात्र कुछ प्रश्नों के सही उत्तर चुनने पर लाखों-करोड़ों कमाओ ! कितने प्रगतिशील हो गये हैं हम ! सारी ज़िंदगी भर भी मास्टरी करके लाखों प्रश्नों के सही उत्तर देने पर भी लाखों जोड़ नहीं पायेंगे. छिः ! हे भगवान ! यदि मैं कम से कम बारह लाख जीत गया तो तुझे एक हज़ार रुपये का प्रसाद चढ़ाऊंगा.

आख़िर वह दिन आ गया. ग्लैमर की दुनिया इतनी रोमांचकारी होगी, इसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकता था. छोटी-सी गुणवत्ता का इतना बड़ा सम्मान ! उसे लग रहा था कि मानो मां सरस्वती उसके ज्ञान कपाटों पर अपनी वाणी बजा रही है, परंतु वहीं मां काली और लक्ष्मी का द्वंद उसके अंतर में जलता दीया दिपदिपा रहा था. उसने कल्पना की थी कि बेवफ़ा 'चांद' उसे आज टी.वी. में देखकर जल जायेगी और पछतायेगी. वह सच्ची श्रद्धा से भगवान से प्रार्थना कर रहा था कि आज का कॉन्टेस्ट बारह लाख तक जितवाने में उसकी मदद करें, मानो भगवान इसीलिए है कि कोई भी टुच्चा सच्ची-झूठी श्रद्धा में धन-ज्ञान मांगे तो वह छप्पर फाड़-फाड़ कर उस भक्त पर अपनी अपार दया लुटा दे, और जगदीप भक्त एक रुपये में मोटर-साइकल भी खरीद ले तथा उस सारी जनता के सामने ठोककर झूठ बोले कि वह मोटर-साइकल पिता को पेंशन दफ़्तर ले जाने के लिए खरीद रहा है; कोई नहीं जान पायेगा कि मोटर-साइकल तो 'चांद' को जलाने के लिए ली जायेगी.

उसके चेहरे से फ़ाख़्ताएं उड़ी हुई थीं. अब उसके पास अपनी बुद्धि प्रयोग करने के विकल्प के स्थान पर कोई चारा नहीं था. गोविंदा बोला, 'ये रहा तीन लाख रुपये के लिए आपका अगला सवाल-'

"गोदान उपन्यास का लेखक कौन है ? एक, रवींद्र; दो, शरतचंद्र; तीन, प्रेमचंद्र; चार, बंकिमचंद्र."

गोविंदा के चेहरे की गंभीरता उसे अंदर से कहीं खाये जा रही थी. 'चंद्र' के योग पर ग्रहण लगा हुआ उसे स्पष्ट हो चुका था. दूसरे के पीछे बैठकर मोटर-साइकल पर जाती हुई 'चांद' उसे पल भर को दिखी. गोविंदा उसे खलनायक-सा प्रतीत हुआ. माथे पर पसीने की बूंदें उभर आयीं.

स्मृति को गहरा टटोलने पर भी सही उत्तर चुनना भारी पड़ने लगा. अंधे कुंये में पानी की उम्मीद ही बाकी बची थी. उसने अंतरात्मा की आंखें बंद कीं तथा साहस का झंडा गाड़ दिया और सोचा कि 'गोदान' का लेखक हो न हो रवींद्रनाथ ही है, लेकिन शरतचंद्र का नाम भी उसने सुन रखा था तथा प्रेमचंद को स्कूली कक्षाओं में बतौर कहानीकार पढ़ा भी था. अब उसे बिल्कुल भी याद नहीं पड़ रहा था कि रवींद्र और प्रेमचंद की जीवनी याद करते समय 'गोदान' का संदर्भ किस लेखक पर था. चारों लेखक उसके लिए गब्बर की पिस्तौल में भरी वे गोलियां थीं जो चल भी सकती और खाली भी रह सकती थीं.

जगदीप ने गोली चला दी और बोला, 'रवींद्र.'

निशाना चूक गया था; ऐसा उसने तत्काल गोविंदा की आंखों में पढ़ा था.

गोविंदा बोल रहा था, "माफ़ी चाहूंगा जगदीप जी, आपका जवाब सही नहीं है. 'गोदान' रवींद्रनाथ ठाकुर ने नहीं, बल्कि उपन्यास सम्राट कहलाने वाले प्रेमचंद ने लिखा था."

इस वक्तव्य के बाद गोविंदा सांत्वना के लिए कुछ कह रहा था, परंतु उसे कुछ सुनाई नहीं पड़ रहा था.

घर लौटकर वह अजब कशमकश में था. न जाने क्यों बार-बार दिमाग में यह घूम रहा था कि उसका उत्तर सही था. वह प्रेमचंद की जीवनी पढ़कर तसल्ली करना चाहता था कि 'गोदान' क्या प्रेमचंद ने ही लिखा था ! प्रेमचंद की जीवनी कहां मिलेगी ? वह दिमाग दौड़ाने लगा. कक्षा छठी की हिंदी पुस्तक में मिलेगी.

ऐसा किसी कार्यक्रम में हुआ था कि एक व्यक्ति का उत्तर सही था, परंतु कार्यक्रम वालों ने उसे गलत घोषित कर दिया था. इस पर सही उत्तर देने वाले ने बाद में उन पर दावा ठोक दिया. वह भी यही करेगा, परंतु पहले सही उत्तर की जांच तो हो जाये.

पड़ोस के दीपू की छठी कक्षा वाली हिंदी की पुस्तक देखी, उसमें प्रेमचंद की जीवनी नहीं थी. निराश हुआ, झुंझलाया भी. रात को खाना भी ठीक से नहीं खा पाया. जो ईनाम की राशि जीतकर लाया था, वह कल्पना की गयी राशि का चौथाई भी नहीं है. पाने की खुशी, हारे धन के नीचे दबी-भिंची पड़ी थी. प्रेमचंद और रवींद्रनाथ के बीच 'गोदान' उसे पिसता हुआ लग रहा था. काश! उन्होंने गुलशन नंदा के किसी उपन्यास के बारे में पूछा होता.

ध्यान बंट सके, इसके लिए वह बिस्तर पर लेटा हुआ आदतन रेडियो सुनने लगा. उसकी उंगलियां एक ज़गह आकर अनायास ठहर गयीं. एक चर्चा उस केंद्र पर चल रही थी - "प्रेमचंद आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितना उस समय थे. होरी अभी भी जीवित है, गोबरधन आज भी गांवों में विद्रोही स्वर लिये हुए है, यही 'गोदान' की प्रासंगिकता है..."

'गोदान' के संग प्रेमचंद का संदर्भ सुनकर जगदीप मानो चौंक पड़ा. जिस बुझती आशा में वह जी रहा था, वह अब बिलकुल बुझ चुकी थी. रेडियो में वार्तालाप करते विद्वानों द्वारा यह स्पष्ट था कि 'गोदान' का लेखक प्रेमचंद ही है. संदेह के सारे स्पष्टीकरण उसके माथे तक चढ़ आये थे. उस अंधेरे में उसने एकाएक अपने एकांत के सबसे अच्छे दोस्त को फर्श पर दे पटका. उसे लगा कि वह रेडियो को नहीं, अपितु गोविंदा का सिर फोड़ रहा हो.

❑

कहते हैं कि जगदीप अब कभी-कभी असामान्य-सी हरकतें करता है, जैसे अपनी साइकल को छोटे बच्चों को दिखाते हुए बताता है कि यह उसकी मोटर-साइकल है तथा कक्षा में बच्चों

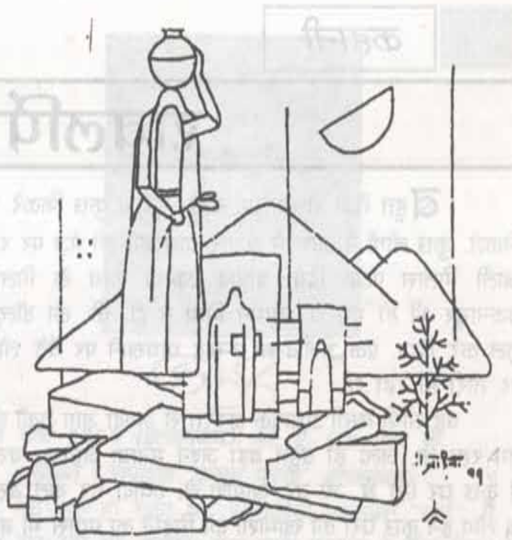

को पढ़ाते हुए कई बार सामान्य ज्ञान वृद्धि में बता चुका है कि 'गोदान' का लेखक प्रेमचंद है.

अभी तक उसने न तो पिता के लिए यात्रा की बात घर में की है और न ही मां के लिए डिश एंटेना लगवाया है. छत की सीलन पर अब उसका ध्यान नहीं जाता. कुछ लाख जीतने की खुशी में दुखी होकर जो पार्टी उसने दोस्तों में दी थी, उन्हीं के लिए अब वह विनोद को कहता है कि वे सब अपना समय एवं भविष्य खराब कर रहे हैं. वह व्यवस्था को भी गाली देता है कि स्कूल में पूरा माह पढ़ाने के बाद पंद्रह सौ रुपल्ली तथा ट्यूशनों से चार-पांच सौ कमाता है. टी.वी. के ऐसे कार्यक्रमों को वह अरब का कुंआ कहता पाया गया है. अरब मुद्रा, जो उसने कुछ ही मिनटों में कमा ली थी, की तुलना में स्कूल की भारतीय मुद्रा उसे आटे में नमक जैसी लगने लगी है. इसीलिए वह अब अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए सामान्य ज्ञान की कई पुस्तकें चबा चुका है. उसने अपने इन स्रोतों द्वारा पता लगा लिया है कि सुभाष घई के अलावा भी हिंदी साहित्य के कुछेक लेखक हैं जिनकी कहानियों पर फिल्में बन चुकी हैं. मुंह बनाते हुए वह अंत में यह भी जोड़ देता है,- 'अफ़सोस, आम लोग उन फिल्मों के बारे में कुछ भी नहीं जानते.'

यह भी सुना है कि उसकी इन हरकतों की वज़ह से मां परेशान रहती है कि उसका विवाह कैसे हो पायेगा. पिता चिंतित हैं कि उनका बेटा अब टी. वी. में आ रहे एक ऐसे ही नये कार्यक्रम में भाग लेने की पूरी तैयारी कर रहा है, कहीं वह इन्हीं चक्करों में स्कूल की इस नौकरी से भी हाथ न धो बैठे.

अब वह न तो अपने दोस्त विनोद से मिलता है और न ही उसने अपने एकांत-क्षणों के सबसे अच्छे दोस्त रेडियो को ही ठीक करवाया है.

बी.ए.- ४५, शालीमार बाग, दिल्ली-११० ०८८.

कहानी

रावलपिंडी एक्सप्रेस

सुधीर अग्निहोत्री

बहुत तेजी से तालियां बजीं. मुंह से कुछ फिकरे भी निकले. कुछ लोगों ने जोश में आकर चायखाने की मेज़ पर रखे खाली गिलास पटक दिये. शायद एक-दो कांच के गिलास चकनाचूर भी हो गये थे. जुम्मन मियां ने टी. वी. का वॉल्यूम फुल कर दिया. एक अजीब-सा उन्माद चायखाने पर बैठे लोगों पर तारी हो रहा था.

वह सोयी बस्ती अचानक ज़रूरत से ज्यादा जाग चुकी थी. लग रहा था, जल्द ही बहुत बड़ा जश्न मनाया जायेगा. बस्ती में कुछ घर ऐसे थे, जो बड़े खामोश थे. ज्यादा घर वाले बस्ती के लोग इन कुछ घरों की खामोशी को चिढ़ाने का प्रयास भी बढ़-चढ़ कर कर रहे थे. माहौल में अजीब सी सनसनी थी.

बस्ती में टी. वी. व ट्रांजिस्टरों के बढ़े वॉल्यूम और हो-हल्ले के कारण समां अजीब-सा हो चुका था.

'बड़े सूरमा बनते थे. पेल दिया साले को. कैसा टांग उठा कर पवेलियन की तरफ भागा. बड़ा मास्टर ब्लास्टर बनता था ससुरा.' मुन्ने मियां जोश में आकर बोले.

'अबे, मिट्टी के शेर हैं ये साले. इसी पर इन्हें बड़ा नाज़ था. अब बचायें इज्जत. ये भला जीतेंगे वर्ल्ड कप. अरे, आज का मैच निकाल न पायेंगे ! पता नहीं, मुकाबले में आगे बढ़ भी पायेंगे.' रहमान मुसकुराते हुए, मज़े से पान चुबलाते हुए बोला.

'अमां, अभी गांगुली, युवराज और वो इलाहाबादी छोकरा कैफ बचा है. मामला पलट भी सकता है. ये क्रिकेट है भइय्ये. हां, सचिनवा के जाने बाद तो उम्मीद कम ही है.' इकबाल ने आशंका जताई, तो हनीफ़ ने तंज किया, 'इकबाल भाई, तुम काहे उम्मीद लगाये हो. हमें इनकी हार से मतलब है. दुआ करो, आज ये कंगारू जीत जायें.'

'अमां, मैं कोई जीत की बात थोड़े ही कर रहा था. फिर जिन खिलाड़ियों के नाम गिनाये, उनमें एक.... समझ गये न. इकबाल ने सफाई दी और कुछ ख़ास इशारा भी किया, जिसे समझने वाले समझ गये.'

'बड़ी बेकार सोच है तुम्हारी इकबाल. लकड़मंडी में रहते हो न ! असर जायेगा नहीं ! खिलाड़ी कौम से ऊपर होते हैं. मुझे तो फ़ख है कि वो इतने बड़े टूर्नामेंट में मुल्क की तरफ से खेल रहा है. मुल्क और कौम दोनों का नाम ऊंचा करेगा. जहां की खाते हो, वहीं की बजाओ भी. हम इसी मिट्टी में पैदा हुए हैं. हमारे पुरखे यहीं दफ़न हैं. यहीं का दाना-पानी लेते हैं. अपना मुल्क अपना ही होता है. ऐसी फालतू बातें वाज़िब नहीं. फिर खेल में हार जीत तो लगी ही रहती है.' नफ़ीस ने तिलमिला कर कहा, तो सब के सब उस पर कुछ इस तरह गुर्राये, जैसे किसी गली में घूम रहे पागल-दीवाने को घेरकर आवारा कुत्ते गुर्राते हैं.

'बड़े मुल्क वाले बनते हो, अब हमारा यहां रहा ही क्या ? हम ख़तरे में हैं. अब हमें अलग मुल्क चाहिए. भूल गये छह दिसंबर को क्या हुआ था ? तुम्हारे अब्बा हुजूर भी तो फंस गये थे बाजार से लौटते वक़्त दंगाइयों के बीच. आज तक पता चला क्या उनका ?' इकबाल ने औरतों की तरह हाथ मटकाते हुए कहा, तो जुम्मन चायवाले ने उसकी 'हां में हां' मिलायी, जो उसकी दुकानदारी में इज़ाफे के लिए ज़रूरी भी थी. इकबाल ने उसे चार स्पेशल चाय और मक्खन-बन का ऑर्डर दे दिया.

'ये सियासत के मसायल हैं. हमें इनसे दूर रह कर फ़िरकापरस्ती से बचना चाहिए.' नफ़ीस उसे समझाते हुए बोला.

'अबे बहक रया है क्या ? आगरे वाले नन्हें मियां ने नफ़ीस को घुड़का. इकबाल ने उसे खा जाने वाली नज़रों से देखा.

इससे पहले कि नफ़ीस कुछ और कहता चायखाने में मौजूद कुछ और लोग उस पर चढ़ बैठे. उसने वहां से चले जाने में ही भलाई समझी. नफ़ीस को उन कम-समझों पर रह-रह कर तरस आ रहा था. उसने मन ही मन अज्म कर लिया था कि जब तक ये टूर्नामेंट चलेगा, वह चायखाने पर बैठेगा ही नहीं.

उधर चायखाने का उन्माद और गहरा होता जा रहा था. इधर गर्मागर्म हो रही बहस के बीच भारत का एक विकेट और गिर गया था. नफ़ीस के खिसकते ही सब शांत हो गये और टीवी से चिपक गये. तभी एक विकेट और गिरा. सभी खुशी से चहके नहीं, बल्कि चीखे.

'साले सैकड़ा भी पार नहीं कर पायेंगे', काफी देर से खामोश बैठा हनीफ़ खुशी से हथेलियां रगड़ते हुए बोला.

महमूद खिस्स से हंसा और बोला, 'अबे फिक्स तो नहीं है ? लगता है, बाबू मोशाय ने पर्दे के पीछे काम दिखाया है.' इकबाल और जुम्मन 'हो-हो' कर हंसे. फिर इकबाल, जुम्मन की पीठ पर हल्की-सी धौल जमाते हुए बोला, 'यह भी मुमकिन है.'

अचानक सब चुप हो गये. किसी भारतीय खिलाड़ी ने चौका जड़ दिया था. हनीफ़ ने खामोशी तोड़ी, 'चिराग बुझना होता

है, तो रोशनी बढ़ जाती है.' सभी फिर हंसे.

'अबे, ये टूर्नामेंट में बने भी रहेंगे. मैं तो एक मार्च का मुकाबला देखने को बेताब हूं. कहीं बाहर हो गये, तो दिल के अरमान दिल में ही दबे रह जायेंगे. अतीक भाई, दुकान में आतिशबाजियां ख़त्म तो नहीं हो गयीं, क्योंकि दीवाली पर खूब वारे-न्यारे किये थे. चौगुने-छह गुने दामों में बेचे थे पटाखे. न हों, तो बताओ कहीं और से कर लूं इंतज़ाम.' इकबाल चहका.

'इंशा अल्लाह, मुकाबला होना चाहिए. ये पिटेंगे. देखना उस दिन रावलपिंडी एक्सप्रेस का कमाल. रौंद डालेगी इन्हें और अपना अकरम भाई भी है. तारे नज़र आ जायेंगे. टाइगर और लायन पानी भरेंगे उस दिन. रही बात आतिशबाजी की, तो भरी पड़ी है दुकान ! बरावफ़ात में नया माल भरवाया था. पर मौलवी साहब ने पर्चे बंटवा कर बड़ा नुकसान करवाया. पटाखों का माहौल ही न रहा. भरे पड़े हैं. अल्लाह कसम, रावलपिंडी एक्सप्रेस का तूफान चल गया, तो पूरी दुकान जश्न मनाने वालों के हवाले कर दूंगा. मुफ़्त बाटूंगा पटाखे.' अतीक भाई खुशी से झूमकर बोले.

'इंशा अल्लाह, वो दिन ज़रूर आयेगा.' इकबाल बोला, 'अबे, तेरी दुकान के इर्द-गिर्द कुछ घर..... ! बड़ा मज़ा आयेगा.... जल-फुंक जायेंगे साले.' इकबाल बोला.

'कुछ आतिशबाज़ी आज भी कर लो. बस, कंगारू जीतने ही वाले हैं. अतीफ टी.वी. स्क्रीन पर नज़रें जमाये हुए बोला. रहमत को भेजकर मंगवा लेता हूं.' अतीक ने दुकान की चाबी रहमत को दे दी.

भारतीय टीम मात्र १२५ रनों पर ही सिमट गयी. उन्माद चरम पर जा पहुंचा. उन्होंने बड़ी बेहयाई से जमकर कंगारूओं की जीत का जश्न मनाया. कुछ असमर्थ लोग, कुछ देर के लिए आक्रोशमिश्रित खामोशी के साथ इस जश्न के गवाह बने. फिर कमरों में कैद हो गये. बस्ती देर तक जागती रही.

❑

एक मार्च को जुम्मन का चायखाना फिरसे खचाखच भरा था. उसने चार लौंडों को चाय-नाश्ता सर्व करने के लिए अलग से रखा था. जुम्मन की चोखी दुकानदारी होनी थी. आज उसने दुकान के अंदर दो-दो टी. वी. सेट लगा रखे थे. घर वाला टी. वी. सेट भी चायखाने पर उठा लाया था. सभी जोश में थे, रावलपिंडी एक्सप्रेस के तूफान को लेकर. हालांकि कंगारूओं से हार के बाद भारतीय टीम ने खुद को बहुत इंप्रूव किया था. महत्वपूर्ण मैच भी जीते थे.

जुम्मन के चायखाने पर जमे मजमे को भी इस 'इंप्रूवमेंट' का अहसास था, पर इसे वे ज़ाहिर नहीं होने दे रहे थे. उनकी जबां पर बार-बार कुछ नाम आ रहे थे- 'वकार भाई, शोएब भाई, इंजमाम वग़ैरह-वग़ैरह.' इनके जौहर की गाथाएं दोहराई जा रही थीं.

१ मार्च १९६६ (इलाहाबाद): बी. ए. एल. एल. बी.

संप्रति : संपादक 'कुसुम परख', इलाहाबाद

मैच शुरू हो चुका था. रावलपिंडी एक्सप्रेस "यार्ड" में आराम कर रही थी, क्योंकि टॉस उनके कप्तान ने जीत लिया था. टॉस जीतने से जुम्मन के चायखाने वाले खुश थे.

नन्हें खलीफ़ा अलमस्ती से बोले, 'अमां, आधा मैच तो जीता समझो.' सभी ने उनसे सहमति जतायी.

जंगनुमा मैच शुरू हो चुका था. जुम्मन के चायखाने वालों का जोश बढ़ता ही जा रहा था. उनके भाई, जिनके गुणगान से वे अघा नहीं रहे थे, बढ़िया खेल रहे थे. जोश और उठा-पटकी में दो-तीन चाय के गिलास अब तक चकनाचूर हो चुके थे. जंग जीतने के करीब पहुंचने जैसी खुशी चायखाने वालों को थी.

दो-दो टीवी फुल वॉल्यूम पर चल रहे थे. चाय, बीड़ी-सिगरेट धकाधक चल रही थी. २७३ रन बने. सभी गदगद थे. अच्छा स्कोर खड़ा किया था भाइयों ने.

'अब तो तमाचा मार के मैच जीत लेंगे.' इकबाल विश्वास से भर कर बोला. लकड़मंडी के दादा अद्धा पहलवान भी वहां मौजूद थे. जोश में भरकर लुंगी में खुसी छह-फहरा निकाली और छह की छह गोलियां हवा में दाग दीं. फायरिंग की आवाज़ सुनकर बस्ती के कुछ घर सहम गये. भगवान से कुशल-मंगल की प्रार्थना करने लगे.

अगले पल खामोशी छा गयी. रावलपिंडी एक्सप्रेस मैदान में उतर चुकी थी. इस सुपर एक्सप्रेस से जुम्मन के चायखाने वाले कुछ ज्यादा ही प्रभावित थे. रनअप शुरू करते ही उन्होंने तालियां पीटनी शुरू कर दीं.

अचानक चहक रहे चेहरे बुझने लगे. चायखाने पर खामोशी छाने लगी. माहौल मोहर्रमी हो चला. छातियां पीटी जाने लगीं. रावलपिंडी एक्सप्रेस पटरी से उतर गयी थी. दूसरे अकरम भाई भी जमीन सूंघ चुके थे. एक ओवर में १८ रन देने के बाद रावलपिंडी एक्सप्रेस ने धुंआ फेंक दिया. कूबत ज़बाब दे गयी.

चायखाने का परिदृश्य एकदम बदल गया था. सियापा-सा छाया था. जुम्मन भाई खासे मायूस हो चुके थे. मास्टर ब्लास्टर

पिच पर तांडव कर रहा था. भारत की जीत धीरे-धीरे सुनिश्चित होती जा रही थी. चौकों-छक्कों पर पटाखे छूट रहे थे. आज दूसरी बस्ती, जो कुछ दूर थी, जाग रही थी. पटाखों की धमक जुम्मन के चायखाने तक आ रही थी, जिसका अहसास चायखाने पर बैठने वाले ज्यादा ही कर रहे थे.

उस बस्ती के जो कुछ घर थे और जो अतीक आतिशबाज की दुकान के पास थे, आज जाग रहे थे.

जैसे-जैसे भारत की जीत नज़दीक आ रही थी, चायखाने से उठ कर जाने वालों का सिलसिला बढ़ता जा रहा था. जुम्मन की खिसियाहट देखते ही बन रही थी. अतीक मियां नतीज़ा भांप चुके थे. बेन्च से उठे. चूतड़ पर कुछ इस तरह हाथ फेरे, मानों धूल झाड़ रहे हों. वह अनमने से बढ़ चले.

नीचे आतिशबाज़ी की दुकान थी. ऊपर के खंड में वह रहते थे. दीपावली में दूर-दूर से लोग इनसे पटाखे लेने आते थे. शादी-ब्याह के मौकों पर भी लोग-बाग उन्हीं के यहां बुकिंग कराते. वैसे, दुकानदारी के मामले में वे बड़े कुशल थे. ग्राहकों से उनकी आत्मीयता थी. युवा और बच्चे उन्हें अतीक चच्चा कह कर संबोधित करते थे. बस्ती के जो कुछ घर थे, दीपावली पर वे भी अतीक चच्चा की दुकान से ही पटाखे लेते थे. ऐसे अवसरों पर अतीक चच्चा सद्‌भावना व भाईचारे की बढ़-चढ़ कर इस तरह बातें करते कि सामने वाला जुम्मन चाय वाले की दुकान पर दिखने वाले उनके स्वरूप की कल्पना तक नहीं कर सकता था. मोहल्ला स्तर के नेता के रूप में वह होली और ईद के मिलन समारोहों में भी आगे रहते. छब्बीस जनवरी को लकड़मंडी चौराहे पर वह झंडा भी फहरवाते थे और ऐसे कामों के लिए उन्होंने बाकायदा एक समिति का भी गठन कर रखा था. नाम था - 'सौहार्द समिति' दोनों संप्रदायों के होने वाले त्यौहारों पर प्रशासनिक अधिकारी, मसलन, डी. एम., एस. पी. वगैरह अतीक मियां की आवभगत करते थे. त्यौहार शांति पूर्ण संपन्न भी हो जाते थे. अतीक मियां कुछ शांति कमेटियों से भी जुड़े थे, जो इन्हीं ख़ास मौकों पर सक्रिय होती थीं. त्यौहारों के सकुशल समापन के बाद अतीक मियां को कोतवाली में होने वाले जलसे में इज्जत बख्शी जाती थी. इन बातों से उनकी मुलायम छवि दूसरी कौम के लोगों के बीच थी. जो बस्ती के 'कुछ घर' थे वे भी अतीक चच्चा से आत्मीयता रखते थे. उनका सम्मान भी करते थे.

अतीक चच्चा ने भड़ाक से दरवाज़ा बंद किया. दनदनाते ऊपर चढ़ गये. बेगम ने खाना खाने को कहा, तो उसे घुड़क दिया. बेचारी सहम गयी. एक अजीब-सा जुनून उन पर सवार था. जुम्मन की दुकान पर बैठे कई उदास चेहरे उनकी आंखों में घूम रहे थे. रावलपिंडी एक्सप्रेस के पटरी से उतर जाने का उन्हें गहरा रंज था. बेहद गमज़दा से वे बिस्तर पर जा पड़े.

तभी कुंडी पीटने की आवाज़ आयी. कोई जोर-जोर से कुंडी पीट रहा था. 'अतीक चच्चा.... अतीक चच्चा....' कुंडी पीटने

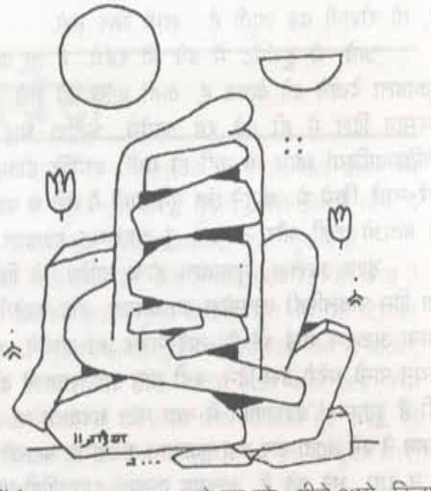

वाला आवाज़ें दे रहा था. वह बड़बड़ाते हुए उठे. नीचे आये. किवाड़ खोले. सामने कन्हैया खड़ा था. सिंह साहब का लड़का. वह खुश था. दौड़ता हुआ आया था. सांसें फूल रही थीं. सिंह साहब से अतीक मियां के संबंध अच्छे थे.

'चच्चा.... चच्चा.... पटाखे दे दो, ये पकड़ो रुपये. चच्चा, सचिन ने कमाल कर दिया आज.... रावलपिंडी एक्सप्रेस की तो ऐसी धुनाई की, कि पूछो मत. मैच नहीं देखा क्या ? भारत की शानदार जीत हुई. अकरम की भी खूब धुनाई....'

अभी कन्हैया बात पूरी भी न कर पाया था कि अतीक चच्चा ने उसके गाल पर झन्नाटेदार तमाचा रसीद कर दिया. खूनी आंखों से उसे घूरा. बाल पकड़ कर घसीटा, 'अपनी मां... चले आये, साले जाकर अपनी मां-बहन "उसमें" फोड़ेगा पटाखा...'

इससे पहले कि वह वहशत की इंतहा पार करते, बेगम ने उन्हें घसीटा, "पागल हो गये हैं क्या ? ये कैसा जुनून सवार है आप पर...!! बेगम के घसीटने से कन्हैया अतीक मियां की पकड़ से आज़ाद हो गया. उसके कुछ टूटे बाल अतीक मियां की मुट्ठी में रह गये थे. वह अतीक मियां की पकड़ से छूट कर उलटे पांव गली में भागा. बेगम ने किसी तरह दरवाज़ा बंद कर अतीक मियां को सीढ़ियों पर खींचा. उधर कन्हैया बदहवाश भाग रहा था. रह-रह कर उसे वह दृश्य याद आ रहा था, जब छब्बीस जनवरी पर राष्ट्रगान गवाने के लिए चच्चा उसे घर से बुला कर ले गये थे. कार्यक्रम उनकी समिति 'सौहार्द' के तत्वावधान में हुआ था. कई बच्चों ने समूह में राष्ट्रगान गाया था और चच्चा ने ढेर सारे लड्डू दिये थे. दहशतज़दा कन्हैया कम उम्र होते हुए भी सब कुछ समझ चुका था. उसका गला बेतरह सूख रहा था. घर पहुंचते ही वह लस्त-पस्त बिस्तर पर जा पड़ा. आज उसने अनायास ही सांप्रदायिकता की पाठशाला की पहली कक्षा में प्रवेश ले लिया था.

८०/७८/१, खुशहाल पर्वत, इलाहाबाद-२११ ००३.

कहानी

बिटिया

डॉ. किसलय पंचोली

जैसे ही हम लोग ढाबे के सामने रुके, हमें ट्रक के ड्राइवरी केबिन के खिड़कीनुमा दरवाजे से एक हंसता चेहरा नज़र आया.

"जल्दी बोलो साहब ! पहले दो कट, है ना ? फिर खाने में क्या लोगे ? सब मिलता है इधर, पर नानवेज मत मांगना, वह नहीं बनता साहब !"

"अरे बिटिया, इतनी भी क्या जल्दी है ? पहले बता नल किधर है ? हाथ-मुंह तो धो लें." गुरुबचन ने ट्रक से कूदकर उतरते हुए बच्ची से कहा.

मैं सोच में पड़ गया. आवाज़ तो पहचानी-सी लग रही है. जल्दी की आदत भी. एक फांस, जो गहरे दबी पड़ी रहती है, मुंह में आ चुभने लगी. यादों का स्वाद कड़वा गया. कहीं नज़मा तो नहीं ? ...कहो रज़ाक मियां, किस उधेड़बुन में पड़ गये ? अपने आप से कहता, मैं भी उतर गया.

जो सामने देखा, तो ठगा-सा खड़ा रह गया. बुत बन गया. एक प्यारी-सी दस बरस की लड़की गुरुबचन को नल के करीब ले जा रही थी. उसके एक हाथ में साबुन व दूसरे में तौलिया था. मेरा दिल धक से रह गया. हो न हो, यह तो मेरी नज़मा है. वही सुनहले बाल, सुतवां नाक, चुलबुली आंखें व मोती-से दांत ! वही तो है.

लगा, उसे दौड़कर गले लगा लूं. पूछूं - तू कहां रही मेरी बच्ची ? कैसी है तू ? क्या अपने अब्बू को भूल गयी ? राधा बी कहां हैं ? बस्ती के क्या हाल हैं ? सवाल उठते रहे, घुमड़ते रहे. जेहन का आसमान पट गया.

पर जब उसने उसी ग्राहकी तौर पर मुझसे यह कहा - "अब चलो भी क्लीनर बाबू आपके भी हाथ धुला दूं." तो मैं कुछ पूछ नहीं पाया. बादल छंट गये. तमाम सवाल व कैफियतें आंसू की बूंदों में तब्दील हो गयीं. बूंदें, आंखों की कोर नम कर टपकतीं, उससे पहले संजीदा व होशियार हो चुका था दिलो-दिमाग.

जब वह तुझे नहीं पहचान रही, तो कुछ मत बोल रज़ाक. देख नहीं रहा कितनी खुश है वह आज. कल की कोठरी की कालिख मत निकाल. पता नहीं ज़िंदगी ने उसके साथ बीते दिनों क्या सलूक किया हो ?

"क्या नाम है तुम्हारा ?" मैंने नज़रों को भरसक कोशिश से सवालिया, अबूझा बनाते हुए पूछा.

"लक्ष्मी ! मेरे ही नाम से बापू ने यह ढाबा खोला है." अपने घेरदार फ्राक की फुर्ती से फिरकनी बना, वह चाय लेने बापू के पास पहुंच गयी.

अच्छा ही किया जो मैंने अपनी पहचान जाहिर नहीं की. मैं दिल-ही-दिल बुदबुदाया. मेरी ज़िदगी तो अब गुरुबचन, ट्रक और सड़क से अलहदा कुछ नहीं. लक्ष्मी के लिए इसमें कहां ज़गह होगी ?

यूं भी छः साल बहुत होते हैं रज़ाक मियां, बहुत. तुमने नज़मा की फिक्र उसी दिन की होती, तो और बात थी. तब तो बुजदिल की तरह सड़क नापते फिर रहे थे. जंगल की खाक छान रहे थे. अब तुम्हें कोई हक नहीं कि लक्ष्मी की खुशहाली में ख़लल डालो.

"क्या बात है रज़ाक मियां ? बड़े परेशान दिख रहे हो. तबीयत तो ठीक है ?" सरदार ने कंधा थप-थपाकर पूछा.

"हां... आं... नहीं, कुछ नहीं. मैं ठीक हूं." मैंने बमुश्किल मुस्कराते हुए कहा.

"आओ यार ! इधर नीम के नीचे छांव में लेट कर बतियाते हैं."

"नहीं सरदारजी, मुझे नींद-सी आ रही है." कह मैंने उसकी तरफ से पीठ की. चेहरे पर आते तूफान को रोके रखना संभव न था. पढ़ लिये जाने का अंदेशा था.

आंखें बंद करते ही भर दोपहर, भयानक रात में तब्दील हो गयी. जिस काली रात मैंने नज़मा को खोया था.

बड़ी स्याह थी वह रात. बेहद मनहूस थे वे पहर. लम्हा-लम्हा हा-हाकार करता था. शहर में चार दिन से कर्फ्यू लगा हुआ था. हिंदू-मुस्लिम दंगे भड़क चुके थे. शहर क्या, पूरा मुल्क धधक रहा था. कौमें झुलस रही थीं.

यूं रज़ाक मियां निहायत ही मामूली आदमी थे. उन्हें न तो सियासी दांवपेचों की ख़बर रखने का शौक था, न ही कोई ज़रूरत. अल्लाह सब देख रहा है, यह मानते हुए अपनी छोटी-सी नौकरी, चंद बकरियों और नज़मा बिटिया के इर्द-गिर्द जीते हुए खुश रहते थे. खुदा मेहरबानी बनाये रखे, यही उनकी नमाज़ थी, लेकिन कई बार सिर्फ़ पाक नीयत रखना काफी नहीं होता. उस रात खुदा की मेहरबानी का छाता फट गया.

"रज़ाक मियां, रज़ाक मियां !"

बगल वाली संकरी गली में खटर-पटर और हल्की पुकारें हुईं तो वे उठ बैठे. डंडा संभाला. चिमनी तेज की और तल्खी से पूछा -"कौन है ?"

'दरवाज़ा खोलो जल्दी. हम ही हैं.' बस्ती की पहचानी आवाजें सुन उन्होंने कुंडी गिरा दी.

वे लोग भड़भड़ाकर अंदर घुस गये. उन्हीं लोगों ने फटाफट कुंडी चढ़ा दी. उनके चेहरे वहशी व आंखें जुनून से लबालब थीं.

"इतनी रात गये कर्फ्यू में क्यों आना हुआ ? क्या कोई सख़्त बीमार है ?" उनकी लंबी, गहराती, डरावनी परछाइयों के आगे रज़ाक का सवाल बौना पड़ गया.

"रज़ाक मियां - रज़ाक मियां, हमारे पास ज्यादा वक़्त नहीं है." एक बोला कि फुंफकारा.

"तुम इस्लाम की क़द्र करते हो. इस्लामी ज़ुबान की भी करोगे." दूसरा हठी से गुर्राया.

ये माज़रा क्या है ? तुम कुछ खुलकर तो कहो वे पूछते इसके पहले तीसरा कह उठा - "तुम पानी की मेन टंकी का वाल्व खोलने जब सुबह जाओ, तो यह पोटली उसमें छोड़ देना. बस, इतना ही काम है."

उनके हाथ-पैर कांप गये. बमुश्किल मुंह से इतना ही निकला- "मगर क्यों ? इसमें है क्या भाई ?"

"कम-से-कम फिटकरी तो नहीं है यह." कह उनमें से एक विद्रूप हंसी हंसा.

रज़ाक के चेहरे पर फिर-फिर उभरते 'क्यों' के फलसफों को जैसे ही उन्होंने पढ़ा, चारों ने ज़वाब में अलग-अलग हथियार निकाल लिये.

"हम 'न' सुनने नहीं आये हैं."

"बहस करने भी नहीं."

"कुरान की आयतें झेलने भी नहीं." वे लोग कहते गये.

"इससे बेगुनाह मारे जायेंगे." रज़ाक मियां ने धीरे से कहा.

"यह सोचना तुम्हारा काम नहीं है, समझे ? हमें जहां इत्तला करनी होगी वहां हम कर देंगे."

"काम हो जाना चाहिए वरना..." उनमें से सबसे भयानक शख़्स ने अपना चाकू चिमनी के पास गरमाकर, उनकी ठुड्डी से अड़ाकर कहा- "अपना नहीं, तो नज़मा का तो ख्याल रहेगा न रज़ाक मियां ?"

यूं धमकाकर वे सब चले गये. रज़ाक सन्न रह गया.

उसकी हालत ऐसी हो गयी, मानो काटो तो खून नहीं. मेरे अपने जात-भाई. मेरे अपने अड़ोसी-पड़ोसी. रोज़ की दुआ-सलाम वाले थे हैवान-शैतान ? मैं ख्वाब देख रहा हूं या हक़ीक़त ? क्या इंसानियत इतनी जल्दी बिक जाती है ? या ख़ुदा ! यह कैसी रात बनायी तूने ? और किन्हें भेजा मेरे दर ? अब क्या होगा ? ख़ुदा ! क्या तू भी बेगुनाहों को ही ख़तरे देता है ?

१५ सितंबर १९६०, रतलाम (म. प्र.)

एम. एस-सी. (वनस्पति शास्त्र), पी-एच. डी.

सृजन : डेढ़ दर्जन कहानियां व इतने ही आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. आकाशवाणी इंदौर से दर्जन भर कहानियां प्रसारित. दृश्य-श्रव्य केंद्र देवी अहिल्या वि. वि. इंदौर के लिए स्क्रिप्ट लेखन, राज्य संसाधन केंद्र इंदौर की लेखक कार्यशालाओं में सहभागिता. एक कहानी संग्रह 'अथवा' रामकृष्ण प्रकाशन विदिशा (म. प्र.) से शीघ्र प्रकाश्य.

पुरस्कार : कादंबिनी साहित्य महोत्सव-आशु कहानी-लेखन पुरस्कार (१९९९), राष्ट्रीय पुस्तक मेला इंदौर प्रकाशचंद्र जैन स्मृति पुरस्कार (२००१), कथाक्रम अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता द्वितीय पुरस्कार (२००२).

संप्रति : सहायक प्राध्यापक (वनस्पतिशास्त्र), शासकीय, आदर्श, स्वशासी होल्कर विज्ञान महाविद्यालय, इंदौर (म.प्र.)

रज़ाक मियां ने उठकर पानी पिया, पर हलक सूखा जा रहा था.

पास ही खटिया पर मासूम नज़मा दुबकी पड़ी थी. प्यारी-सी, चार साल की बिटिया नज़मा. ...साले, हवाला भी देकर गये तो किसका ? नज़मा के लिए तो अब्बू ही ज़हान हैं और पड़ोस वाली राधा अम्मा, दुनिया. इसमें भी कतर-ब्यौंत करने वाले आ गये ? क्यों अल्लाह, ऐसा क्यों ?

रज़ाक मियां कोठरी में टहलते रहे. कलाई घड़ी में समय देखा, पौने-चार. टंकी का वाल्व खोलने जाने में अभी ढाई घंटे की देर थी. उन्हें अपनी तीस साल की नौकरी याद आ गयी. पूरी ईमानदारी, नेकी और वक़्त की पाबंदी से बजाई गयी म्यूनिसपल्टी की नौकरी, जिस पर उन्हें गर्व था. लोग सुबह-शाम रज़ाक मियां के नल से घड़ियां मिलाते थे. उनका मानना था कि ख़ुदा की और नियामतों की तरह पानी पर भी सबका समान हक़ है. क्या वे इसमें ज़हर मिलायेंगे ? या ख़ुदा ! तू मेरा कैसा इम्तहान ले रहा है ? इस पोटली में काबिले-तौर ज़हर है. क्यों ? मेरे आका ऐसा क्यों ? क्या यह रात देखने के लिए तूने मुझे रशीदा से जुदा

कर अभी तक ज़िंदा रखा ? या खुदा, तूने मुझे उसी दिन क्यों न उठा लिया ? अगर मैं यह नहीं करता हूं, तो वे लोग मुझे ज़िंदा नहीं छोड़ेंगे. और अगर करता हूं तो जीते-जी मर जाऊंगा. मैं खुद को ज़िंदगी भर माफ़ नहीं कर पाऊंगा. नज़मा मुझसे बड़ी होकर पूछेगी - अब्बू, आपने ऐसा क्यों किया ? आप डरपोक हो. बुज़दिल हो. सारी बस्ती के लोग थू-थू करेंगे. शहर कहेगा - रज़ाक मियां ने ऐसा किया. फांसी का फंदा ! उमर कैद ? कुछ भी हो सकता है. मेरे गरीब नवाज़, मुझे उबार! इस कयामती इम्तहान से तू ही निकाल.

रज़ाक मियां को याद हो आये वे सारे त्यौहार, जब उन्हें पानी के नल ज्यादा देर तक खोलना पड़ते थे. अगर उन्हें ईद याद रहती थी, तो होली भी. गर्मियों में मुंह-अंधेरे किफ़ायत से खोलते, सर्दियों में धूप चढ़े बाद. खुद एक-एक नल जांचते, जो उनकी ड्यूटी नहीं थी. कहां की टोंटी गायब है ? कौन-सा नल टपकता है. किसने पानी की चोरी की, सब उन्हें पता होता था. रज़ाक मियां अक्सर कहा करते - 'पानी खुदा की सबसे कीमती नेमत है, इसे बरबाद न करो.'

क्या आज खुद मुझे इसे ज़हरीली सूरत अंजाम देना होगी ? मेरे पाक दामन में यह पोटली क्यों आ पड़ी ? सोचते-सोचते एक घंटा हो गया, तो रज़ाक मियां ने अपने आप को झटका. अब और वक़्त नहीं है विचारने का. नल खोलने तो जाना ही होगा.

कर्फ्यू-पास लिया. पोटली कमर में बांधी. खाकी ओवर कोट पहना. टोपी सीधी की और वे चलने को हुए, कि अचानक उन्हें क्या सूझा पड़ोस की सटी हुई कोठरी की कुंडी खटखटा दी.

"क्या बात है रज़ाक भाई ?" राधा बाई बाहर आयी, जिसे रज़ाक मियां राधा बी पुकारते थे.

"अच्छा, तो वाल्व खोलने जा रहे हो."

"हां, राधा बी. नज़मा का ध्यान रखना." मन में उठते गहरे सवालों को दबाते हुए उन्होंने कहा.

"लो ! यह भी कोई कहने की बात हुई. वह तो मैं रखूंगी ही. जाओ, तुम खोल आओ नल, मैं तब तक नज़मा के पास ही हूं."

अलस्सुबह भी उस दिन, मानो डरते-डरते हो रही थी. रज़ाक मियां टंकी की ओर चल दिये, जो छोटी-सी टेकरी पर थी. हवा में ठंडक थी, काटती ठंडक. हाथ कांप रहे थे. बार-बार पोटली पर हाथ जाता. नज़मा, राधा, खुद और शैतानों के चेहरे खंबों, दरख्तों पर टंगे दीखते थे.

टंकी पर पहुंच कर एक पल वे सांस रोक खड़े हो गये. रोज़ की तरह, आदतन वाल्व खोल दिया और दूसरे ही क्षण वे बेतहाशा दौड़ पड़े, बड़ी सड़क की ओर. जंगल-जंगल वाले ऊबड़-खाबड़ रास्ते थे. वे दौड़ते-फांदते भागे चले जा रहे थे, मानो कोई उनका पीछा कर रहा हो. जब काफी दूर चले आये, तो पोटली को संभाला. वह अपनी ज़गह बदस्तूर बंधी थी.

इतने में एक ट्रक वहां से गुज़रा. रज़ाक मियां ने जोर से रूमाल लहराया. ज्यादा कुछ न पूछते हुए गुरूबचन ने उसे बिठा लिया. पोटली को रज़ाक ने, गुरूबचन की नज़र बचाते हुए, घने जंगल की एक खाई में फेंक दिया. तब सांस-में-सांस आयी.

"क्या नाम है तुम्हारा ?" सरदार ने पूछा.

"रज़ाक !"

"कहां जाना है ?"

"कहीं भी."

"कहीं भी माने ?" ट्रक की स्पीड कुछ कम करते हुए गुरूबचन ने दोहराया.

"यक़ीन मानो सरदारजी. मैंने कोई जुर्म नहीं किया. जुनूनी मेरे पीछे पड़े हैं. तुम मुझे अपने ट्रक पर रख लो. मैं बेकसूर हूं. कुछ भी काम कर दूंगा."

"वाह पुत्तर ! यह भी खूब रही. क्लीनर बनोगे ?"

तब से रज़ाक मियां गुरूबचन के ट्रक पर क्लीनर हो गये.

"क्या सो गये भाई ?"

गुरूबचन ने मुझे उठाया तो होश आया, कि मैं लक्ष्मी ढाबे के तले लेटा हूं.

"चलो, खाना खा लें."

"हां, चलो."

हम एक दूसरी खाट पर बिछे पटियों पर खाना खाने लगे. लक्ष्मी गरम-गरम परोस रही थी.

जब गुरूबचन ढाबे के मालिक को पैसे देने लगा, तो उसने एक के ही पैसे लिये.

"नहीं सरदारजी नहीं, जब आप पहले आये थे तब आपके साथ ये बाबूजी नहीं थे. जबसे लक्ष्मी आयी है, ढाबे में पहली बार खाना खाने वाले के पैसे हम नहीं लेते. वह लक्ष्मी के बरकत खाते में अपने आप जमा हो गये समझ लो. ये आपके क्लीनर बाबू तो नये हैं. इनके पैसे अगली बार लगेंगे. अभी तो बिटिया को दुआ भर दे जायें."

"यह तुम्हारी बिटिया है ?" मुझसे रहा नहीं गया.

"बेटी से बढ़कर है बाबूजी. भगवान ने हमारे दो बच्चे छीन लिये. और इस बेटी लक्ष्मी को भिजवा दिया. ...याद है, छः साल पहले बड़े दंगे हुए थे. तब एक बहना हमें सौंप गयी थी."

"लो, बाबूजी सौंफ."

अपनी नन्हीं हथेलियों में सौंफ की रकाबी थामे वह खड़ी थी. माथे पर दूज के चांद-सी बिंदिया लगाये. हमने सौंफ खा ली. उसकी मिठास मुंह से मन में उतर गयी. या खुदा ! तू सुनता है. तू मेहरबान है. मेरी बेटी, लक्ष्मी कहलाये या नज़मा क्या फ़र्क पड़ता है ? यही सोचकर मैं फिर ट्रक पर चढ़ गया.

एफ-८, रेडियो कॉलोनी,
रेजीडेन्सी एरिया, इंदौर-४५२ ००१.

कहानी

जानवर और आदमी

रमुआ, फ़करू दोनों को पता है कि काका लेटे-लेटे क्या सोचते हैं. पूरे गांव में उनके दो ही तो दोस्त हैं. आज के नहीं, बचपन के साथी हैं. साथ-साथ खेले हैं एक साथ अखाड़े में कुश्ती लड़े हैं. पूरे-पूरे दिन जंगल में जानवरों को लिए 'लुकौर' (एक देशी खेल) और गुल्ली-डंडा खेले हैं. एक दूसरे से सुख और दुख को बांटा है. पोटली में बंधी रोटियों, चना और चबेना को आपस में बांटकर खाया है. आपस में लंगोट बदला है. नदी में साथ-साथ तैरे हैं. डुबकी लगायी है. पानी के अंदर जलक्रीड़ा की है. क्या नहीं जानते दोनों काका के बारे में ? सब कुछ जानते हैं. किसके अंदर क्या छिपा है, क्या चल रहा है, तीनों एक दूसरे की अंदर-बाहर की सब जानते हैं. आज तीनों नाती-पोते वाले हैं. तीनों की शादियां भी लगभग कुछ दिनों के अंतराल में एक ही साल के अंदर हुई थीं. जंगल में जानवर चराते वक़्त तीनों ने अपनी-अपनी सुहागरात की दास्तां आपस में बांटी थी. रमुआ की बात पर काका और फ़करू दोनों खूब हंसे थे. रमुआ ने बताया था -'मुझे देखते ही मेरी दुल्हनियां कोठरिया के बाहर भागने लगी. मैं उसे अंदर खींचू मगर वह बाहर भागे. मैं कहूं, तू रुक जा, आज हमारी परेम की रात है. वह बार-बार हाथ छुड़ाये तो मुझे गुस्सा आ गई रे. मैंने आव-देखा न ताव. उसे दोनों हाथ से उठाया और ले जाकर खटिया पे पटक दिया. तब जानते हो क्या हुआ? खटिया की एक पाटी टूट गयी. फिर जानते हो उसने का कहा ?'

'का कहा ?' काका और रहीम ने एक स्वर में पूछा.

'बोली, देख लिया तुम्हारा परेम'.

'फिर का हुआ ?' फिर दोनों ने पूछा.

'फिर का हुआ ? मैंने बिना नोई (रस्सी जो गाय के पैरों में बांधी जाती है.) के उसे दुह लिया.'

इसी बात पर तीनों ने जोरों का ठहाका लगाया. यह ठहाका महीनों और सालों गूंजता रहा.

आज काका बिस्तर पे हैं. आधा अंग यानी शरीर का बांया हिस्सा लकवे का शिकार हो गया है. काका के बेटों ने उन्हें अंदर वाले दरवाज़े से हटाकर बाहरवाली ओसारी में लिटा दिया है. काका लेटे-लेटे पेशाब और टट्टी बिस्तर पर ही करते हैं. गांव की जमादारिन जब फुर्सत पाती है तो उस गढ़े को साफ कर जाती है. उनके पास कोई नहीं आता. मास्टर बेटा स्कूल जाते वक़्त और वहां से लौटते वक़्त एक नज़र देख लेता है. दोनों का हिस्सा बंट गया है. काका के लिए एक कटोरा रख दिया गया है उसी कटोरे में मास्टर बेटे, तो कभी पटवारी बेटे के घर से खाना लाकर डाल दिया जाता है. दाल-भात रोटी सभी एक साथ सानकर काका खा लेते हैं. जो नहीं खाया जाता काका उसी कटोरे में छोड़ देते हैं. खटिया के पास बैठा कबरा कुत्ता उसे खा लेता है.

काका के पास अगर कोई बैठने आता है तो सिर्फ़ रमुआ और फ़करू. काका मूत में सने हैं या टट्टी में. दोनों रमुआ और फ़करू को इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता. अपनी गरीबी के दिन वे दोनों कभी नहीं भूलते. काका जब रोटी की पोटली ले जाते तो पहले दोनों को खिलाते. मां की मटकी से चोरी से घी निकालकर डिब्बी में भर ले जाते.

डॉ. विवेक द्विवेदी

उन दोनों को यह सब नहीं भूला था. दोनों आते तो सबसे पहले उनकी गंदगी साफ़ करते. फिर सभी की चोरी में कभी केला, कभी सेब तो कभी बिही या बेर खिलाते. उसके बाद मुंह धुलाकर तंबाकू मलते और उनकी ओर गदेली बढ़ा देते. काका को मन ही मन खुशी होती. अपने आप से कहते मेरे साथी आज भी नहीं बदले. गोस्वामी तुलसीदास की चौपाई मन ही मन दोहराते. 'धीरज-धरम, मित्र, अरु नारी. आपद काल, परखिहु चारी.' नारी तो हृदयगति रुक जाने की वज़ह से चार साल पहले ही चल बसी थी. धर्म तो अपंगता के साथ ही साथ छोड़ दिया था. लेकिन धीरज और उनके मित्रों ने साथ नहीं छोड़ा था. काका को अपने बेटों से कोई शिकायत नहीं थी. बहुएं तो कभी पास भी नहीं फटकती थीं. फिर भी काका उनकी भी शिकायत किसी से नहीं किया करते थे. नाती-नतुर कभी-कभार ज़रूर आ जाते. काका खटिया पे पड़े-पड़े उन्हें तोता-मैना और भूत-प्रेत की कहानी सुनाया करते थे. जंगल से जुड़ी उनके पास ढेरों कहानियां होतीं. कभी-कभी वह भी सुनाया करते. गांव के बच्चे भी आ जाते. काका की कहानी सभी बड़े चाव से सुनते. सूरज, चांद की कहानियां काका सुनाते. इसलिए काका को नाती नातिनें चोरी-छिपे घर से लाकर कुछ न कुछ खिलाते रहते.

परंतु काका जब रमुआ और फ़करू को पाते तो उनकी खुशी द्विगुणित हो जाती. उन्हें लगता कि राम और अल्लाताला एक साथ ही उनके पास आ गये. यद्यपि दोनों की कही बातें उन्हें आज भी याद आतीं.

'काका तुम इन बेजुबान बैलों को बुढ़ापे में जंगल काहे छोड़ आते हो. तुम्हें इसका बहोत बड़ा पाप पड़ेगा.'

'का करूं इन पेटभरुओं का. हल में चल नहीं सकते और दमरी के लायक नहीं रहे. बैलगाड़ी के काबिल भी तो नहीं रहते. इन्हें खिलाने के सिवाय हम इनका करें का ?'

'इसलिए उन्हें जंगल में बघवा को सौंप आते हो !'

काका को वो सारी बातें याद आतीं. काका लेटे-लेटे सोचते. अनजाने में उन्होंने कितनी बड़ी गलती की. हृष्ट-पुष्ट बैल बाज़ार से खरीद लाते. पूरे साल उनसे काम लेते. काका इन बैलों से इतना काम लेते कि चार-पांच साल के अंदर वे बैल बूढ़े हो जाते. काका उनकी पीठ में गरम कलछुरे से निशान बना देते. फिर जंगल में ले जाकर छोड़ आते. घने जंगल से बाहर निकलकर शेर आता और बैठे-बिठाये उसे शिकार मिल जाता. दूसरे दिन काका जंगल में घूमने जाते. कहीं न कहीं बैल का अधखाया जिस्म पड़ा मिल जाता. काका खुश हो जाते. फौरन लौटकर सुखइया चौधरी को आवाज़ लगाते.

'ओ सुखइया, जा घाट के ऊपर मरी पड़ी है, चमड़ा निकाल ला. काका एक साथ दोहरा फायदा लेते. बूढ़े जानवर से निजात पा लेते और सुखइया से एक जोड़ी जूता भी ले लेते. शुरू-शुरू में तो सिर्फ बूढ़े बैलों को छोड़ आया करते थे. बाद में गाय और भैंस भी छोड़ने लगे थे. यद्यपि काकी ने काका की इस हरकत का सदैव विरोध किया था. कई-कई बार तो काकी, काका के सामने लेट गयी थीं. काका ने तब भी नहीं माना था. काकी ने गुस्से से कहा था- देखना एक दिन तुम्हारी भी जेही दशा होगी.'

काका तब जोरों से हंसे थे, -देख जंगल में बघवा की कोई खेती तो होती नहीं. मुझे कुछ भी नहीं होगा रे. मैं भी तो पुण्य कर रहा हूं.' काका अब सोचते हैं, काकी की बात पर. काकी की बात सही हो गयी. लकवा लगते ही, उन्हें अहसास हो गया था. खेत में छः घंटे पड़े रहे थे. दसों बार संदेश गया था, तब भी दोनों बेटे अपनी-अपनी ड्यूटी से नहीं आये थे. खेत से लगा जंगल था. काका के मन में शेर का ख़ौफ बराबर आ रहा था. उन्हें रह-रहकर धौरा बैल के साथ घटी घटना का दृश्य याद आ रहा था. धौरा के पैर में हल का फाल घुस गया था. काका ने पूरे छः माह तक धैर्य के साथ इलाज कराया था. लेकिन वह बात नहीं बन पा रही थी. काका का धैर्य टूटने लगा था. उन्होंने उसे फेरी वालों को बेचने का मन बना लिया था.

लेकिन लाख कोशिशों के बावजूद काका उसे बेचने में सफल नहीं हो सके थे. अब उसे बैठाकर खिलाना काका के लिए असह्य हो गया था. काका की मनःस्थिति रमुआ और फ़करू ने भांप ली थी. दोनों ने एक साथ काका को चेतावनी दी थी.

'काका, तुम औरों की तरह धौरा के साथ वैसा नहीं करना. कुछ दिनों बाद धौरा रहट में चलने लायक हो जायेगा. अगर नहीं भी होगा तो तुम इसे किसी फेरी वाले को दान कर दो.'

'तुम लोग कह तो सही रहे हो, मगर इस मोटी चमड़ी वाले से मुझे दो जोड़ी पनही मिल जायेंगी.' काका ने इतना बोलकर

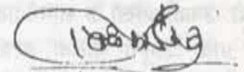

२ अप्रैल १९६८

एम.ए., एल. एल. बी., पी-एच. डी.

लेखन : कहानी, उपन्यास व आलोचना.

देश की महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में तीन दर्जन कहानियां प्रकाशित.

उपन्यास : 'अंतरीप', मासिक पत्रिका 'गांव देश' में धारावाहिक प्रकाशित.

वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली से 'भीष्म साहनी उपन्यास साहित्य' आलोचना-ग्रंथ प्रकाशित.

पुरस्कार : म. प्र. हिंदी साहित्य सम्मेलन भोपाल द्वारा १९८६ में कहानी 'चैतू का आषाढ़' के लिए प्रथम पुरस्कार.

विशेष : मुंबई में सहायक निर्देशक के रूप में संघर्ष. पाठक मंच-जिला इकाई रीवा का कई वर्षों तक संयोजन.

अपने स्वभाव के अनुसार ठहाका लगाया था. दोनों दोस्त चिढ़ गये थे. जाते-जाते बोले थे, 'तुम्हें हमारी दोस्ती का वास्ता. ऐसा मत करना, वरना दोस्ती बिखर जायेगी.'

'तुम लोग इस जानवर की वज़ह से मुझसे दोस्ती तोड़ लोगे.' काका ने चौंधियायी आंखों से उन्हें निहारा.

'हां काका, यह जानवर ज़रूर है, लेकिन हमारा जीवनदाता है. यही है, सिर्फ़ यही जो निष्पक्ष है. इंसानी रिश्ते को बखूबी निभाता है. भेदभाव रहित इस बेज़ुबान को पहचानो काका. तुम इतने बेगुनाहों की मौत के सौदागर मत बनो काका. यह खून है. यह हत्या है. कानून भले तुम्हें माफ़ कर दे लेकिन प्रकृति तुम्हें माफ़ नहीं करेगी. यह तुमसे हिसाब मांगेगी. तुम्हारा यह अपराध अक्षम्य हो जायेगा काका.'

काका उस रात सो नहीं पाये थे. पूरी रात करवट बदलते रहे थे. काकी ने भी यही बात दोहरायी थी. काका मान गये थे. काका ने पहली बार महसूस किया था, जानवर भी इंसानी रिश्तों की डोर में बंधे होते हैं. काका ने कइयों को समय से पहले मौत की सजा दी थी. गुरुजी का प्रवचन उन्हें कभी समझ में नहीं आया था. लेकिन रमुआ और फ़करू की साधारण सी बातों ने उनके ज्ञानचक्षु खोल दिये थे.

वह दिन था कि फिर आज का दिन काका ने चींटी को भी अपने पैरों तले नहीं पड़ने दिया. मगर एक दृश्य काका कभी नहीं भूल पाये. ...धौरा लंगड़ाते-लंगड़ाते खेत पार करता हुआ जंगल की ओर बढ़ गया था. काका लाठी लेकर उसे ढूंढने निकले थे. शाम हो रही थी. काका ने दौड़ लगा दी थी. उनकी नज़र अचानक धौरा पर पड़ी. धौरा ने लंगड़ाते हुए भागने की भरपूर कोशिश की. मगर बाघ उसे छका-छकाकर कभी आगे दौड़ाता तो कभी पीछे. मज़बूर काका नदी की ओट में खड़े उस आंख मिचौली को निहार रहे थे. उनकी आंखों के सामने एक साथ सारे जानवरों का दृश्य उभर आया. जमुना, कलवा, हलवा, ललवा, शंकरवा, नंदी, बोहरा, पन्नी, सूपी और पड़ा आदि. अचानक उन्हें लगा ये सारे के सारे बैल, गाय और भैंस भाग रहे हैं और बाघ उन्हें खदेड़ रहा है. तभी उन्होंने देखा बाघ ने अपना पंजा धौरा की गर्दन में मारा और जबड़े से कंधा पकड़कर चारों तरफ घुमाता हुआ उछाल दिया.

अचानक काका को वह दृश्य जैसे ही याद आया काका परेशान हो उठे. उन्हें लग रहा था कि अगर खेत में अकेला देखकर बाघ आया तो मेरा क्या होगा ? मैं तो धौरा की तरह भाग भी नहीं सकता. काका को हंसी आती है. आदमी भी विवश हो जाता है. ऐसी स्थिति तब आती है जब जानवर और आदमी दानों बेजुबान हो जाते हैं. दोनों अपनी विवशता की जंजीर में कैद हो जाते हैं. जैसे आज काका हैं. कितनी भी भूख लगी हो, खाना मांग नहीं सकते. क्योंकि उन्हें पता है कि हम लाख चिल्लायें लेकिन होगा वही जो बहुएं चाहेंगी. अब वह साझे के पिता हैं. अछूत की तरह रखा वह कटोरा उन्हें बार-बार सुगना गोंड की याद दिलाता है. सुगना गोंड काका का मज़दूर था. जो उनके यहां हल जोता करता था. काका ने उसके लिए एक थाली, कटोरा और लोटा अलग से बाहर रखवा दिया था.

सुगना को जब भी खाना दिया जाता तो उसी थाली में. सुगना खाने के बाद उसे धोता और सार में बने अरबा के ऊपर रख आता. अगर वह थाली धोखे से घर का कोई सदस्य छू लेता तो तत्काल स्नान करना पड़ता. काका को आज हंसी आती है. काका अपने को सुगना से जोड़कर देखते हैं. उन्हें कोई फ़र्क नहीं दिखता, अपने और सुगना के बीच में. राम और फ़करू अक्सर काका को टोका करते. तब काका उनकी बात को हवा में उड़ा दिया करते. आज काका पश्चाताप की आग में झुलसते रहते हैं.

लेकिन काका ने अपने मां-बाप की सेवा सदैव की है. उन्होंने काकी को कभी नहीं कहा कि तुम उनकी टट्टी पेशाब साफ़ कर दो. काका अगर अपने पिता का बिस्तर गंदा देख लेते तो तत्काल साफ़ करते. काका आज सोचते हैं. मैंने तो अपने मां-बाप को सदैव सम्मान दिया है. उनके सुख-दुख को बांटा है. फिर मेरे साथ ऐसा क्यों हो रहा है. जिन बेटों को मैंने सर पर बिठाकर घुमाया है, रात-रात भर उन्हें गोदी में लिये लिये सुलाया है, फिर...! काका अंधेरे में इस प्रश्न का उत्तर तलाशने के लिए गोता लगाते हैं. प्रश्न तब भी अनुत्तरित रहता है. काका ने कई बार सोचा कि इसका उत्तर रमुआ और फ़करू से पूछें. परंतु आज तक पूछने की हिम्मत नहीं जुटा सके. क्योंकि उन्हें पता था कि दोनों का ज़वाब बहुत कटु होगा. काका कटु बातें सुनने में शुरू से परहेज़ी थे.

गांव में दंगा भड़क गया था. चारों दिशाओं से अजीबोगरीब आवाज़ें आ रही थीं. लेकिन काका को इसकी जानकारी नहीं थी. दो दिनों तक छिटपुट वारदातों के बाद उसके स्वरूप में तेजी आ गयी थी. यद्यपि काका को अपने बेटों और नातियों का बदला तेवर अच्छा नहीं लग रहा था. उनकी आंखों में उतर आये लाल रेशों की धार मन में कुशंका का भाव पैदा कर रही थी. काका देर रात लौटते बेटों से पूछना चाह रहे थे कि शुक्रवार की रात गांव में एक जोरदार धमाका हुआ, वह क्या था ?

मास्टर बेटा दौड़ता हुआ काका के पास आया और उग्र भाव में बोला. 'काका, गांव में हिंदू-मुस्लिम दंगा हो गया है. हमें तत्काल घर छोड़ना होगा. आप... ' मास्टर बेटे की बात पूरी नहीं हो पायी थी कि काका बोल उठे.

'बेटा, तू मेरी चिंता छोड़. तू तत्काल सभी को ले और रातों रात जंगल चला जा. और हां, जैसे भी हो रमुआ और फ़करू के परिवार को भी अपने साथ ले जा.'

'लेकिन आप... ' मास्टर बेटा दुखी मन से बोला.

'मुझे कुछ भी नहीं होगा. मैं जानता हूं, मुझे मौत इतनी आसानी से नहीं मिलेगी.'

'लेकिन काका दंगाइयों ने बड़े-बूढ़े बच्चों को भी नहीं छोड़ा.' बेटे ने कंपती आवाज़ में फिर कहा.

'पटवारी कहां है ?' काका ने धीरज के साथ पूछा.

'मैंने उसके साथ घर के सदस्यों को जंगल भेज दिया है. आप चलिए, मैं आपको कंधे पर ले चलता हूं.'

'नहीं, मैं जैसा कहता हूं तू वैसा ही कर. मुझे कुछ नहीं होगा. तू जाने के पहले दरवाज़े पर घर के चार छः मिट्टी के बर्तन फोड़ दे. कुछ बर्तन इधर-उधर फेंक दे और दरवाज़ा खोलकर तत्काल भाग जा. शोर काफी हो रहा है लेकिन रमुआ और फ़करू के परिवार को साथ लेते जाना. अब जा वक़्त नहीं है.'

मास्टर बेटे ने वैसा ही किया. लेकिन जाते-जाते वह यह अवश्य कहता गया- 'मैं एक-एक को देख लूंगा. साले समझते क्या हैं अपने-आपको.'

बस काका के लिए यही बात चिंता का विषय बन गयी. काका अपने बेटों के उग्र स्वभाव से परिचित हैं. अपनी में आ जाते हैं तो मरने-मारने में कोई परहेज़ नहीं करते. उनका कुछ लोगों के साथ उठना-बैठना भी काका को पसंद नहीं है. संगत बदलने की सलाह काका कई बार दे चुके थे.

बहरहाल रात ज्यों-ज्यों गहराती जा रही थी. शोर बढ़ता जा रहा था. इसी तरह बीस वर्ष पहले इस गांव में हिंदू-मुस्लिम दंगा हुआ था. तब काका अधेड़ थे और उनकी बातों में काफी दम था. रमुआ, फ़करू और काका ने मिलकर इस दंगे को रोक दिया था. गांव के मुखिया ने भी दंगा रोकने में प्रभावी कदम उठाया था. उसने किसी की एक नहीं सुनी थी. जो ग़लत था उसे व्यक्तिगत सजा दी थी. गांव के मुखिया पर लोगों को बड़ा भरोसा था. उस भरोसे को उसने कायम रखा था. लेकिन काका को ऐसा आभास हो रहा था कि इस दंगे में लगता है मुखिया भी अपने हाथ सेंकने लगा है. वह अपनी जिम्मेदारी नहीं समझ रहा है. काका का तर्क अपनी ज़गह सही है. अगर गांव का मुखिया अपना फ़र्ज समझता तो शायद इस तरह की डरावनी चीख गांव के आंगन से न उठती.

गांव की बिजली गुल थी. मगर हलाक होते आदमी, औरतें और बच्चों की दम तोड़ती आवाज़ों को काका उस अंधेरे की अंधड़ में भी सुन पा रहे थे. अचानक... मारो सालों ... की आवाज़ उनके करीब आ रही है. तभी उन्होंने देखा गांव के ढेर सारे जानवर उनके घर में घुस आये हैं. खटिया के पास बैठा कुत्ता उन पर लगातार भौंक रहा है. तब भी गाय-भैंस, बैल और बकरियां अंदर तक घुसती जा रही हैं. काका की खटिया जानवरों से घिर गयी. काका दायें अंग के सहारे थोड़ा ऊपर की ओर खिसके और दीवार से टिककर अपनी मुंडी टिका ली. उसी समय द्वार पर कई पदचाप सुनाई पड़े.

'यहां तो पहले से ही उजार हो गया. जानवर ही जानवर खड़े हैं.' अकेली किंतु क्रूर आवाज़ सुनाई दी. काका पहले तो डरे फिर अचानक उनका डर जाता रहा. जानवरों का घेरा उन्हें अपना रक्षा कवच दिख रहा था. भीड़ आगे बढ़ गयी. काका विचार शून्य उसी तरह लेटे रहे. फिर अचानक उन्हें लगा, जिन जानवरों को मैं सारी ज़िंदगी मौत के मुंह में असमय धकेलता रहा, आज वे ही मेरे लिए जीवन कवच बन गये. जंगल के हिंसक पशुओं के भय से भागकर आदमी गांव, कस्बे और शहर में आया करता था, आज मेरा परिवार उसी जंगल में शरण लेने गया है. यह कैसी विडंबना है. सभ्य समाज का यह कितना बड़ा क्रूरतम मज़ाक है. क्या प्रकृति ने सब कुछ उल्टा-पुल्टा कर दिया ? क्या आदमी होने का अर्थ बदल गया ? काका की आंखों के सामने समूचा विश्व उभर आया. विकास के सोपानों पर चढ़ता विश्व मानव, आदि मानव की शक्ल में दिख रहा था. खूबसूरत चेहरे के नीचे उसकी क्रूर आंखें शोले उगल रही थीं.

काका को लगता यह सब क्या हो रहा है. आदमी तो पहले भी जानवर होते देखे गये हैं, लेकिन तब भी आदमी-आदमी ही रहता था. लेकिन आज तो आदमी पूरी तरह से बदल गया है. आदमी की शक्ल में आदमी नहीं रह गया है. काका को सबसे ज्यादा चिंता अपने दोनों मित्र रमुआ और फ़करू की थी दोनों बूढ़े हो चुके हैं. उम्र के हिसाब से भाग-दौड़ नहीं सकते. आततायियों ने पता नहीं उनके साथ क्या व्यवहार किया होगा. उसी समय आकाश में जोरों से गर्जना हुई. काका यह तय नहीं कर पा रहे थे कि गांव के अंदर यह बम फूटा है या आकाश में बादल फटे हैं. लेकिन थोड़ी देर बाद माइक की आवाज़ ने उन्हें चौंका दिया. --'आप सभी को सूचित किया जाता है कि अगर कोई भी व्यक्ति अपने घर से बाहर निकलेगा तो उसे गोली मार दी जायेगी.' काका के मस्तिष्क में यह आवाज़ गूंजने लगी थी. गांव में बह रही हवा की सरसराहट उनके कानों को खुजला रही है. घोड़ों के दौड़ने की सरपट आवाज़ें आनी शुरू हो गयी हैं. मोटरों की भरभराने की आवाज़ें काका को काफी सुकून दे रही हैं. काका बार-बार सोचते. 'आदमी इस हद तक हिंसक हो जाता है कि उसे रास्ते में लाने के लिए बंदूक का सहारा लेना पड़ता है. इसका इलाज सिर्फ गोली ही बची है ? क्या जंगल खिसककर गांवों में घुस आया है.' ये सारे सवाल बिना उत्तर के काका के सामने खड़े हैं. तने खड़े हैं, झुकना भी नहीं जानते. काका यही सब सोचते-सोचते सो गये. उन्हें कब नींद आ गयी, काका को पता ही नहीं चला.

सुबह जब नींद खुली, काका को अपनी पलकें काफी वज़नी लग रही थीं. उन्होंने नज़रें घुमाकर देखा तो सारे जानवर जा चुके थे. मगर पूरे ओसारी में गोबर और मूत कर गये थे. अचानक दरवाज़े पर खड़ा कोटवार उन्हें देखकर बोला.

'काका राम-राम. आप जाग गये.'

'राम-राम बेटा. आओ और बताओ गांव की दशा क्या है ?' काका ने तौलिये से अपना मुंह पोंछते हुए पूछा.

'काका जब लोग ही नहीं रहेंगे तो शांति तो होगी ही न.'

कोटवार की बात पर काका थोड़ा असमजंस में पड़े. फिर भर्राई आवाज में बोले, -'बेटे, मेरे बच्चे कैसे हैं ? रमुआ और फ़करू का परिवार तो सुरक्षित है न ?' काका ने एक साथ दो बातें पूछीं.

कोटवार चुप रहा. कोटवार को चुप देखकर काका सशंकित हो गये. उन्होंने फिर पूछा, 'क्या बात है बेटा ? तुम चुप क्यों हो गये ? सब ठीक तो है न ?'

'हां काका, आपका परिवार सुरक्षित है. लेकिन...' कोटवार बोलते-बोलते रुक गया.

'लेकिन क्या बेटा ? तुम बोलो ? मैं सुनने के लिए तैयार हूं.'

'काका आपके दोनों दोस्तों का परिवार मारा गया.' कोटवार इतना बोलकर वह खामोश हो गया.

'क्या कहा तुमने ?' काका ने जोर देकर पूछा.

'हां काका. रमुआ और फ़करू का परिवार मारा गया.'

'राम-रहीम का परिवार मारा गया और शैतान का परिवार

(कृपया शेष भाग के लिए पृष्ठ २० देखें)

कहानी

उर्मिला की आंखों में

जयनारायण

भूल तो नहीं ही हुई थी. ठीक ज़गह ही 'ट्रेकर' से उतरा था. भला अपने ही गांव को पहचानने में भूल हो सकती है ? चाहे गांव कितना ही बदल जाये, आसपास का भूगोल भले ही अलग चोला पहन ले, फिर भी गांव तो गांव ही है, अपना गांव ! जहां पैदा हुआ, पला-बढ़ा, साथी-संहतियों के साथ खेला-झगड़ा, अपने उसी गांव को मैं भूल सकता हूं भला !

रास्ते के किनारे प्राइमरी स्कूल का नया भवन पुराने भवन के बगल में खड़ा इतरा रहा है. मैं इसी स्कूल में पढ़ा हूं. तब यह नया भवन नहीं था. पास वाले पुराने खपरैल वाले में था. नया वाला तो लगता है, साल-दो-साल पहले बना है. थोड़ी ही दूरी पर पूरब की तरफ राम आसरे काका का बगीचा है, जिसे अब बगीचा तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी पुरानी आदतवश लोग बगीचा या बगईचा ही कहते हैं, मैं भी कहता हूं. आप ही कहिए, भला चार-पांच गाछों के समूह को 'बगीचा' कहा जा सकता है ?... मगर एक समय यह सचमुच बगीचा ही था - लगभग पांच सौ आम और महुआ के पेड़ थे. जामुन, कोंइत और आंवले के वृक्ष भी थे, मगर संख्या में कम थे. स्कूल जाने के लिए हम गांव से बस्ता लेकर निकलते और छांव-छांव स्कूल पहुंच जाते. अगर आम का मौसम हुआ तो क्या कहने ! दो-चार आम जमीन पर पड़े हुए मिल ही जाते. नहीं मिलते तो अपना हाथ जगन्नाथ ! यानी इधर-उधर ताककर पके आम पर नज़र गड़ायी, पेशाब करने के बहाने बैठकर जमीन से ढेला उठया और दे ढेला, दे ढेला ! राम आसरे काका दूर से देखकर गालियां देते, दौड़ते और हम भागकर स्कूल पहुंच जाते. इधर देर से स्कूल पहुंचने पर हमें 'मुर्गा' बनना पड़ता. मगर पके आमों के आगे 'मुर्गा' बनना छोटी बात थी हमारे लिए. यह रोज का काम था. राम आसरे काका रोज 'ढुका' लगते, हम रोज आम चुराते. कभी किसी आम गाछ के पीछे, तो कभी महुआ गाछ के पीछे 'ढुका' (छिपकर अगोरना) लगते, मगर इस लुकाछिपी में जीत हमारी ही होती. हम कभी पकड़े नहीं गये. उनको गालियां बकते और ढेले लेकर हमारे पीछे दौड़ते देखकर गांव का कोई विनोदी उन्हें कभी छेड़ ही देता -'आरे का बाबू साहब, लरिकन के पीछे झूठो हालकान हो रहे हैं ! दुगो आमे न तोड़ लिये ? कोई मोसलम बगइचवा थोड़े सूनाकर दिये ?'

इस पर राम आसरे काका कुढ़ जाते - "हां-हां, अपना रहता तब नू पता चलता !"

और एक दिन राम आसरे काका ने ठान लिया कि इस लुका छिपी को अब ज्यादा दिन नहीं चलने देंगे. इन बंदरों से बगीचे को बचाना ही होगा. हमारे मां-बाप के पास ओरहन (उलाहना) लेकर जाते तो नतीजा शून्य होता. वे मज़ाक में उड़ा देते. वे 'ओरहन' लेकर एक दिन स्कूल में गुरूजी के पास पहुंच ही गये. फिर तो उनके सामने ही छड़ी से हमारी 'पूजा' शुरू हो गयी थी. काका से जब हमारी वो हालत देखी नहीं गयी तो उन्होंने खुद ही गुरूजी से हमारी जान बचायी थी.

खैर, यह तब की बात है. तब यानी आज से चालीस साल पहले की. राम आसरे काका आज इस दुनिया में नहीं हैं. पंद्रह-बीस साल पहले उनका इंतकाल हो गया. उनके दो बेटे हैं. उनके मरते ही बगीचे की कटाई शुरू हो गयी. गाछ एक-एक कर कटते गये और जमीन खेत बनती गयी. अब जब भी गांव आता हूं, इस बगीचे से गुज़रना एक तकलीफ देह अनुभव होता है मेरे लिए.

हां, तो मैं हाथों में वी. आई. पी. का ब्रीफकेस लिये खड़ा हूं.-मुझे काफी कुछ बदला हुआ लग रहा है. यह बदलाव मेरे लिए सुखद है. मुख्य रास्ते से निकलकर जो पतली उबड़-खाबड़ पगडंडी गांव तक जाती थी, वह अब चौड़ी, समतल, ईंट-बिछी सड़क में बदल चुकी है. जिस पर कभी सायकिल भी चलाना मुश्किल था, उस पर अब कार दौड़ सकती है.

सड़क के किनारे एक लकड़ी का बोर्ड लगा है. उस पर लिखा है - 'जवाहर रोज़गार योजना के अंतर्गत निर्मित.' और उसके नीचे अन्य विवरण ! मसलन, इस रास्ते के निर्माण में कितने मानव-दिवस लगे, कितनी राशि लगी, रास्ते की लंबाई-चौड़ाई कितनी है आदि.

मैं राहत की सांस लेता हूं. चलो, गांव वालों का एक सपना तो पूरा हुआ. गांव के कितने लोग रास्ते के लिए कोशिश करते-करते स्वर्ग सिधार गये, मगर रास्ता नहीं बना, सो नहीं बना. और आज मैं इस चमत्कार पर स्वयं चमत्कृत हूं.

लंबी यात्रा के दौरान चेहरे पर जम आयी धूल को रूमाल से साफ़ कर मैं इस नयी सड़क पर आगे बढ़ता हूं. रास्ते के अगल-बगल के खेतों में जानवर चर रहे हैं. गेहूं कटे खेत में घास नाम मात्र को ही मिलती है, मगर बारिश होने पर दूब निकल आती है. लगता है, हफ़्ता-दस दिन पहले बारिश हुई थी. दूर-दूर तक गेहूं कटे सफाचट खेत और बीच में चार-पांच गाछ किसी कर्मकांडी

ब्राम्हण के घुटे सिर पर शिखा-से लग रहे हैं.

अब यही राम आसरे काका का 'बगीचा' है. नहीं, उनके दोनों बेटों का बगीचा है, जहां कुछ चरवाहे ट्रांजिस्टर पर 'विविध भारती' सुन रहे हैं. गाने के बोल मैं यहां से स्पष्ट सुन पा रहा हूं - 'सावन का महीना पवन ऽ करे सोर.' देहात में समय काटने के लिए आज कल ट्रांजिस्टर से बढ़कर दूसरा साधन नहीं.

मैं सड़क पर अकेले चल रहा हूं. मेरी बगल से दो सायकिल सवार घंटी टुनटुनाते हुए निकल जाते हैं. मैं इन्हें नहीं पहचानता, ये भी मुझे नहीं पहचानते, फिर भी लगता है, मैंने इन्हें कहीं देखा है. हो सकता है, ये गांव के ही हों. इधर बीस-पच्चीस वर्षों में जवानों की जो नयी पौध गांव की मिट्टी में उगी है, उससे मैं अपरिचित हूं. वैसे ही, जैसे गेहूं, धान, मकई आदि की नयी-नयी किस्मों से. पिछली बार गांव आया था तो खेतों में घूमते हुए कपिल राय का लड़का शिवशंकर खेतों में मिल गया था. उसने जब मुझे गेहूं की बालियों को छू-छूकर नयी-नयी किस्मों के नाम बताने शुरू किये तो मैं बालियों को निहारते हुए कहीं खो-सा गया था. शिवशंकर ने मुझे तब जैसे किसी गुफा से खींचते हुए पूछा था - 'अमर चाचा, क्या सोच रहे हैं ?' मैंने प्रत्यक्षतः कहा तो इतना ही था - 'हां, शिवशंकर, यह सचमुच ही एक सुखद बदलाव है. सब कुछ बड़ा भला लग रहा है, लेकिन सबसे बड़ा सवाल यह है कि इसमें मैं कहां हूं ?' मेरे मुंह से एक लंबी सांस निकली थी और मैं उदास हो गया था. शिवशंकर मेरा मुंह निहार रहा था. पता नहीं, उसने मेरा मतलब समझा था या नहीं. अपनी ही जमीन से धीरे-धीरे अपरिचित होते जाने की वेदना मुझे साल रही थी. खेतों की मेड़ों पर मैं अपने-आप को तलाश रहा था.

गांव की जमीन से मेरा रिश्ता टूटता जा रहा है... और वही अजनबीपन मैं सायकिल से गुज़रने वाले चेहरों पर भी देख रहा हूं.

थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर खेतों में गोबर बीनती एक दस-ग्यारह साल की बच्ची दिखती है. मैं उसे पास बुलाता हूं. वह गोबर की टोकरी वहीं छोड़कर सकुचाती-सी मेरे पास आकर खड़ी हो जाती है. पावों में प्लास्टिक की लाल चप्पल, देह पर हरे-पीले रंग का सूती फ्रॉक, माथे पर लाल रंग का गमछा, शरीर का रंग हल्का सांवला, धूप से चेहरा तांबई हो चुका है.

'क्या नाम है तुम्हारा ?' मैं यों ही पूछ बैठता हूं, साथ ही एक सवाल खुद से भी, क्यों बुलाया है इस बच्ची को ? क्या यह मेरी मूर्खता नहीं है ? मुझे जल्दी से घर पहुंचकर आराम करना चाहिए न कि धूप से तपती दोपहरी में इस तरह रास्ते में खड़े होकर एक बच्ची से बतियाना चाहिए. मैं अपनी इस बेवकूफी का कोई तार्किक समाधान नहीं खोज पाता.

'उर्मिला !'

'उर्मिला'- मैं मन-ही-मन दुहराता हूं. अब लोग गांवों में भी

१६ जनवरी १९३७,
जिला सीवान (बिहार) के एक गांव में,
स्नातक (कल. वि. वि.)

लेखन : सैकड़ों पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित. कविता, कहानी, लेख, ललित निबंध एवं राजनीतिक टिप्पणियां. पत्रकारिता में विशेष रुचि. १९७१ में बांग्लादेश के मुक्तिसंग्राम पर हिंदी में प्रथम लिखने वाले लेखक.

प्रकाशन : एक कथासंग्रह (नाम-अनाम) एवं काव्य संकलन (काव्य-प्रसंग) प्रकाशित. स्वातंत्र्योत्तर ग्राम कथाकारों में एक विशिष्ट नाम. आधे दर्जन संग्रहों में रचनाएं संकलित.

अनुवाद : रचनाओं का अनुवाद मराठी, बांग्ला एवं अंग्रेजी में. स्वयं बांग्ला से कुछ रचनाओं का हिंदी में अनुवाद.

संपादन : 'अस्वीकार' एवं 'समरकाल' पत्रिकाएं.

सम्मान : राजश्री स्मृति न्यास द्वारा २००२ में सम्मानित.

संप्रति : स्वतंत्र लेखन.

अच्छे-अच्छे नाम रखने लगे हैं.

'किसकी बेटी हो ?'

'उमाकांत की.'

'उमाकांत ?' वह 'हां' में सिर हिलाती है. मैं उमाकांत को जानता हूं. वह ट्रक-ड्राइवर है. हम दोनों समवयसी हैं. हम गांव की प्राइमरी पाठशाला में एक साथ पढ़े हैं. उसके पिता धरीछन महतो मेरे यहां हलवाहा थे. धरीछन महतो जाति के 'कमकर' थे, अर्थात निम्न जाति के थे, फिर भी मां ने सिखलाया था कि मैं धरीछन महतो को 'धरीछन काका' कहा करूं. इस तरह एक रिश्ता जुड़ गया था और उमाकांत और मैं 'भाई' के रिश्ते में बंध गये थे. उमाकांत मुझसे उम्र में छह महीने बड़ा था, इसलिए वह मेरा 'उमाकांत भइया' था. भेंट होने पर क्या मैं उसे अब 'उमाकांत भइया' कह सकूंगा ? धरीछन काका मर गये, मेरे पिताजी भी इस दुनिया से चले गये. बच गये हम दोनों. मैं शहर कोलकाता

में और उमाकांत सिलीगुड़ी में. ग्रामीण रिश्तों की आंतरिकता का स्रोत जो कभी हमारे दोनों परिवारों के बीच प्रवाहित होता रहता था, अब धीरे-धीरे सूखता जा रहा है. क्या उमाकांत के लिए भी धान, गेहूं और मकई की नयी किस्में अपरिचित हैं ?

मैं उर्मिला के हाथ पर कोलकाता से लायी दो टॉफियां रखने लगता हूं, तो वह अपना फ्रॉक फैला देती है. गोबर-सने हाथ में टॉफी कैसे ले भला !

'अच्छा, उर्मिला, अब तुम जाकर गोबर बीनो' - कहकर मैं ब्रीफकेस उठा लेता हूं.

'आप सुमन दीदी के बाबूजी हैं न ?' वह अपने सिर को गमछे से ढंकती हुई पूछती है. उसके चेहरे पर हल्की मुस्कान उभर आयी है. मैं हाथ का ब्रीफकेस फिर नीचे रख देता हूं. मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं है. यह छोटी बच्ची मुझे कैसे जानती है, यह जानने की सहज जिज्ञासा मुझे हो रही है.

'हां, उर्मिला, मैं सुमन का बाबूजी हूं, मगर तुम कैसे जानती हो ?'

'मैं आप को जानती हूं. जब आप लोग सुमन दीदी की शादी में आये थे तो मैं अपनी मां के साथ आपके घर गयी थी. सुमन दीदी की मां ने मुझे खाना खिलाया था और नया 'फराक' दिया था और सुमन दीदी ने मेरा फोटू खींचा था. उसके चेहरे की मुस्कान से मुझे लग रहा है कि अब वह धीरे-धीरे सहज हो रही है.

मैं उससे एक बार फिर जाने को कहता हूं. वह फ्रॉक को टॉफी समेत अपने 'निकर' में खोंस लेती है और दौड़कर अपनी टोकरी उठाने लगती है. टोकरी भारी है. अकेले उठाना उसके बूते का नहीं. मैं आगे बढ़कर टोकरी उठाने में उसकी मदद कर देता हूं. गोबर की गंध मेरे नथुनों में भर जाती है. यह गंध मेरे भीतर जुगुप्सा नहीं जगाती. मैं एक स्वर्गिक आनंद से भर उठता हूं. हजार-हजार गुलाब के फूल मेरे भीतर खिल उठते हैं. इसने मुझे एक सत्य से साक्षात्कार करा दिया है. कौन कहता है कि मेरी पहचान गांव की मिट्टी में खो गयी है ? कि मैं अपनी धरती से बेगाना होता जा रहा हूं ? यह मेरा भरम है. मेरी पहचान सुरक्षित है उर्मिला की आखों में.

और मैं एक नये उत्साह में भरकर इस तपती दुपहरिया में झटककर चलने लगता हूं...

एच-२, टैगोर पार्क (मेन रोड),
नस्कर हाट, कोलकाता - ७०० ०३९.

जानवर और आदमी

....पृष्ठ-१७ से आगे

बच गया.' काका के मुंह से इतना ही निकल पाया था कि काका का परिवार दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ. मास्टर बेटे को देखते ही काका फिर चिल्ला उठे, 'तुमने सुना बेटा, मेरे राम-रहीम का परिवार मारा गया और शैतान का परिवार बच गया...'

काका बार-बार यही संवाद दोहराने लगते हैं. उनके स्वर में एक अजीब किस्म का क्रंदन उभर रहा था. काका की आवाज़ सुनकर बुढ़ापे का एक मात्र हमसफ़र कबरा कुत्ता आया और उनके स्वर में स्वर मिलाकर ऊंचे स्वर में विलाप करने लगा.

काका और ऊंचे स्वर में चिल्लाने लगे, 'सुना तुम लोगों ने, शैतान का परिवार ज़िंदा बच गया... मास्टर बेटे, रमुआ और फ़करू का परिवार मारा गया. मैं तो कहता हूं कि लोगों ने रमुआ और फ़करू को क्यों छोड़ दिया. जब उनका परिवार ही नहीं रहा तो...'

काका अचानक चुप हो गये. उन्होंने फटी-फटी और रुआंसी आंखों से लोगों को देखा. फिर न जाने क्यों बदन में पड़ा लिहाफ़ खींचकर अपने सर के ऊपर डाल दिया. ओसारी में गूंजती और कंपकपाती आवाज़ पूरे गांव में कंपन पैदा कर रही थी. मास्टर बेटे ने देखा...रमुआ और फ़करू कांपते पांव लाठी टेकते इधर ही चले आ रहे हैं. मास्टर बेटे के इशारे पर उसका परिवार घर के अंदर घुस गया.

राजीव मार्ग, निराला नगर,
रीवा ४८६ ००१ (म. प्र.)

लघुकथा

लौटते कदम

देवेंद्र गो. होलकर

'उस्ताद, इस नये बने प्राइवेट अस्पताल पर हाथ साफ़ करते हैं. प्राइवेट रूम की खिड़कियां भी खुली रहती हैं और इसमें आने वाले मरीज संपन्न ही होते होंगे.' नवोदित चोर ने अपने गुरू से कहा.

'बेवक़ूफ़ों जैसी बातें मत करो,' गुरू ने एक झिड़की लगायी. 'एक बार जो ऐसे अस्पतालों में आ जाता है, उनके कमरों में तो क्या उनके घरों में भी कुछ मिलेगा, संदेह ही है. कल ही जब मैं एक खिड़की के पास टोह लेने के लिए खड़ा था तो एक व्यक्ति दूसरे से कह रहा था- 'पता नहीं बाबूजी कब ठीक होंगे ? रुपये-पैसे सब ख़त्म हो गये और तो और गहने तक बिक गये. रोज़ाना कोई न कोई जांच. डॉक्टर साहब जब-जब राउंड पर आकर बाबूजी से मुस्कुराकर पूछते हैं -''अब आप कैसे हैं ?'' तो मेरा चेहरा बुझ-सा जा जाता है, क्योंकि मैं जानता हूं कि डॉक्टर की प्रत्येक मुस्कुराहट की कीमत दो सौ रुपये है. जब हम बाबूजी को घर ले जायेंगे तो हम ज़िंदा होते हुए भी शायद मर चुके होंगे.'

उस्ताद सांस लेने को रुके और फिर अपने चेले को कहा - 'ख़बरदार जो ऐसे प्राइवेट अस्पतालों की ओर रुख़ भी किया. लुटे हुए लोगों को भी कहीं दोबारा लूटा जाता है ?' कहकर उस्ताद ने चेले का हाथ थामा और दोनों के कदम अस्पताल परिसर से बाहर निकलते चले गये.

१८८/ए, सुदामा नगर, इंदौर ४५२ ००१

कहानी

गुलदस्ते

उर्मिल गुप्ता

आज सर्दी और दिनों की अपेक्षा कुछ अधिक ही थी. रात से लगातार बर्फ़ पड़ रही थी. सारा शहर बर्फ़ की सफ़ेद चादर से ढक गया था और ऐसा लगता था मानो ठंड से अपने को बचाने के लिए वह उस सफ़ेद चादर में सिमट कर बैठ गया है. बर्फ़ ने पत्तों रहित दरख़्तों को भी नहीं बख़्शा था. उनकी डालियों और तनों की कालिमा को दूधिया कर दिया था. बाहर सड़क पर लगातार आने-जाने वाली गाड़ियों के कारण दोनों ओर बर्फ़ का मटमैला कीचड़ सा जमा होने लगा था. पगडंडी का तो कहीं पता ही नहीं चल रहा था कि वह कहां गायब हो गयी है. उसके ऊपर चार-चार फुट के करीब पड़ी बर्फ़ पर लोगों के जूतों के निशानों ने पैदल चलने वालों के लिए एक नया रास्ता ही बना दिया था. घरों के बाहर कुछ लोग अपनी-अपनी गाड़ियों के शीशों पर जमी बर्फ़ को साफ़ करने में लगे थे. सामने के पार्क में सब तरफ़ से दबे-ढके बच्चे बर्फ़ के गोले बना-बना कर एक दूसरे पर फेंक रहे थे. खेल के आनंद के ताप ने उनके ठंड के अहसास को किसी गठरी में बांध कर रख दिया था.

बूढ़ी मारिया ने अपनी खिड़की के शीशे से बाहर झांक कर देखा. वैसे तो ऐसे मौसम में उसने हमेशा ही इस शहर के चक्कर लगाये हैं पर आज न जाने क्यों बाहर निकल कर जाने का उसका जी नहीं हो रहा था. पर पेट की भूख और भविष्य की चिंता मनुष्य से क्या नहीं करा लेती ? जब तक पीटर का साथ रहा उसे कभी आर्थिक बेबसी का अनुभव नहीं हुआ. दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई महंगाई ने तो उस जैसे न जाने कितने बूढ़े लोगों की कमर ही तोड़ दी थी. वे सभी आज अपने उन पुराने दिनों को याद कर-कर के वर्तमान व्यवस्था को कोसते थे. कम से कम उस समय खाने-पहनने का संकट तो किसी के लिए न था और सब को रहने के लिए छोटा-मोटा फ़्लैट भी मोहैय्या हो जाता था. मारिया उन दिनों को भुला न पाती थी जब उसके पहले पति ने उसे छोड़कर दूसरा विवाह कर लिया था और तब वह भी पीटर के साथ रहने के लिए उसके इसी फ़्लैट में आ गयी थी. पीटर को गुज़रे लगभग तीन साल होने आ रहे थे. जब तक पीटर जीवित रहा तब तक दोनों का गुज़ारा दोनों की पेंशन से भली प्रकार चल जाता था पर अब अकेले की गिनी-चुनी पेंशन से तो वह सर्दियों का एक जूता भी नहीं खरीद सकती थी. मजबूरी के इस दबाव और तनाव से मारिया जैसी न जाने कितनी वृद्धाएं गुज़र रही थीं. इस दस-बारह साल पुराने नये परिवर्तन ने तड़क-भड़क भरी ज़िंदगी तो दी थी, सड़कों पर दौड़ती लंबी-लंबी विदेशी गाड़ियां दी थीं, रात-रात भर चलने वाले नाइट-क्लब दिये थे, सेक्स-शॉप दी थीं, ब्ल्यू-फ़िल्मों को दिखाते टेलीविज़न के चैनल्स दिये थे, विदेशी सामानों से भरे हुए बड़े-बड़े माल्स और स्टोर्स दिये थे, यहां तक ईस्ट की हर वस्तु को वेस्ट के रंग में डुबा कर एक नयी संस्कृति ही दे डाली थी. पर लोगों की परचेज़िंग-क्षमता को बढ़ा सकने का कोई यंत्र अभी उनके हाथ न लगा था. उस समय जो लोग सत्ता से चिपके हुए थे, वे ही आज के बिजनेस-हाउसेज़ के मालिक बन बैठे थे. लक्ष्मी की कृपा तब भी उन पर थी, आज भी उन्हीं पर ही थी. करप्शन नये-नये वस्त्रों में नया रूप ले कर सामने आ गया था.

बूढ़ी मारिया को लगा कि अगर आज वह न गयी तो रात के खाने का जुगाड़ भी न हो पायेगा. परसों जो ब्रेड उसने खरीदी थी, उससे उसके आज के नाश्ते का तो काम चल गया था लेकिन ज़िंदगी की गाड़ी यहीं तक रुक कर तो न रह जायेगी. उसने पुराना मोटा कोट निकाल कर पहना तो पीटर उसकी आंखों के सामने आ कर खड़ा हो गया. उसके जन्म दिन के दिन अपने पेंशन के सारे पैसों से खरीद कर उसके लिए इस कोट को लाया था. बूढ़ी मारिया की आंखें नम हो आयी थीं और मन आर्द्रता की बर्फ़ से आच्छादित हो गया था.

पूरे दिन की आशाएं और आकांक्षाएं उन छोटे-छोटे फूलों के गुलदस्तों पर टिकी होती थीं जिनको बूढ़ी मारिया रात को बैठ कर बनाती थी. ये फूल उसकी आजीविका के साधन भी थे और उसकी ज़िंदगी के साथी भी. उसने अपनी टोकरी में अन्य दिनों की अपेक्षा आज कुछ कम गुलदस्ते रखे थे. उसे लग रहा था कि ऐसे मौसम में पता नहीं वह इनको भी बेच पायेगी या नहीं. बचे हुए फूलों और गुलदस्तों को पानी से भरे एक गहरे बर्तन में रख कर, एक हाथ में टोकरी को उठा कर वह बाहर निकली. दरवाज़े के ताले को लगाने के बाद उसे उसने कई बार हिला-डुला कर देखा क्योंकि अगले दिन की इनकम के स्रोत उन गुलदस्तों की सुरक्षा से वह आश्वस्त होना चाहती थी. कल की चिंता का भय हर मनुष्य को अपने वर्तमान में एक ओर आशंकित करता है तो दूसरी ओर गतिमान. इसी कल की चिंता में बूढ़ी मारिया लिफ़्ट से उतरकर नीचे आयी और अपने कंपाउंड से धीरे-धीरे कदम बढ़ाती हुई ट्राम-स्टैंड की ओर चल दी.

मारिया की उम्र अस्सी पार कर चुकी थी. कमर झुक गयी थी और शरीर साथ छोड़ने की तैयारी में लगा था. हाथों पर नीली-नीली नसें दूर से ही चमकती थीं. पैर ऐसे कि जिन्हें देख कर लगता था कि किसी ने दो सूखे डंडे लगा दिये हों. सर्दी के कारण चेहरे की झुर्रियां तड़क गयी थीं और अंतर्मन की पीड़ा को साकार करती माथे की सलवटों के बीच की नालियां और गहरा गयी थीं. ट्राम से उतर कर वह रोज़ धीरे-धीरे घिसटती हुई मेट्रो-स्टेशन के 'सब-वे' तक जैसे-तैसे पहुंच जाती थी और वहां दोनों हाथों में गुलदस्ते ले कर एक कोने में खड़ी हो जाती थी. यह कोना उसके जीवन का वह उपवन था जिसमें हर रोज़ कुछ नये फूल खिलने की आशा बलवती होती रहती थी.

मेट्रो स्टेशन का यह 'सब-वे' नगर का सबसे बड़ा 'सब-वे' था जिसने अलग-अलग दिशाओं से आने वाले मार्गों को अपने में निगल लिया था. इसके सर के ऊपर से बसें, ट्रॉली-बसें, ट्राम चारों दिशाओं में गुजरतीं तो इसके नीचे से हर दो-दो मिनिट पर आती-जाती मेट्रो लोगों की भीड़ को एक जगह से दूसरी जगह लाती-ले जाती थी. इस तरह 'सब-वे' में सुबह से शाम तक आने-जाने वाले लोगों का तांता सा लगा रहता था. आने-जाने वाले लोगों में सभी होते थे. यहां भविष्य और वर्तमान को एक साथ गुज़रते हुए देखा जा सकता था. बूढ़ी मारिया की आशा इन दोनों पर टिकी रहती, पर भूत की यातनाओं से अब तक न उबरा यह वर्तमान बूढ़ी मारिया के फूलों में अधिक रुचि नहीं लेता था. जहां तक बात भविष्य के प्रतिनिधियों की थी, उनकी तो शायद नज़र भी मारिया की ओर न उठती थी क्योंकि उनकी दुनिया तो अपनी-अपनी गर्ल-फ्रेंड्स की बाहों और सिगरेट के धुएं में ही डूब कर रह गयी थी. हां, कुछ लोग तो ऐसे ज़रूर निकल ही आते थे जो भले ही अपने ड्राइंग-रूम में सजाने के लिए न सही पर कब्रों पर चढ़ाने के लिए बूढ़ी मारिया के फूल इसलिए खरीद लेते थे कि स्टोर्स की तुलना में उन्हें ये बहुत सस्ते मिल जाते थे.

पर आज मौसम मेहरबान न था. सुबह से शाम होने को आ गयी थी. बूढ़ी मारिया के निकट ही खड़ी हो कर कुछ-कुछ सामान बेचतीं उसी की हम उम्र दो-तीन स्त्रियां अपना-अपना सामान बेच चुकी थीं और घर जाने की तैयारी कर रही थीं. पर मारिया का आज एक भी गुलदस्ता न बिका था. उसरा मन आज बहुत व्याकुल हो रहा था. इससे तो अच्छा था कि वह आज आयी ही न होती. उसके मन की इस पीड़ा को उसके साथ वाली महिला ने भली भांति पढ़ लिया था. उसने न जाने क्या सोच कर मारिया की टोकरी के सभी फूलों को ख़रीद लिया. बूढ़ी मारिया के ओंठों से केवल दो शब्द ही निकले - 'कोसोनम' (धन्यवाद). पर उसकी तरल आंखों से जो उद्‌गार निकले उसका अनुभव करने वाली वह महिला ही थी जिसने बूढ़ी मारिया के सारे फूल ख़रीद लिये थे.

उर्मिला

१८ अक्तूबर, १९६७.

एम. ए., एम. फिल.

लेखन : 'समरलोक', 'आजकल', 'विश्व विवेक', 'पुरवाई', 'शांति दूत' आदि पत्रिकाओं में कविताएं एवं कहानियां प्रकाशित.

विशेष : 'कृष्णा सोबती की कहानियों में नारी अस्मिता की तलाश' शोध प्रबंध.

संप्रति : गत तीन वर्षों से बुदापेश्त, हंगेरी में रहते हुए स्वतंत्र लेखन तथा भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में संलग्न.

बूढ़ी मारिया के चेहरे की लकीरें, जो भयंकर सर्दी के कारण सिकुड़ी-सिकुड़ी और सूखी-सूखी लग रही थीं, अब उनमें कुछ चिकनाहट सी आ गयी थी और सलवटों के बीच की क्यारियों से खुशी के अंकुर फूटने से लगे थे. अपने गंदे से थैले से उसने रेक्सीन का पुराना बटुआ निकाला. बड़े ध्यान से उसमें अपनी आज की अर्जित निधि को संभाल कर रखा और पास के ही सुपर बाज़ार में अपनी आवश्यकता का सामान खरीदने पहुंच गयी. पेट की ज़रूरत है ही ऐसी, बाहर का तापमान बदले या न बदले पर पेट का तापमान अपने समय और आवश्यकता के अनुसार चढ़ता-उतरता है.

आज बहुत दिनों बाद बूढ़ी मारिया ने पूरी ब्रेड, थोड़ी सी सलामी और दो पापरीका खरीदीं थीं. सारे सामान को अपनी खाली टोकरी में रख कर, धीरे-धीरे चलती हुई वह अपने ट्राम-स्टैंड तक पहुंच गयी.

ट्राम के आने में कुछ समय था. बर्फ़ पड़ना तो अब बंद हो गयी थी पर मौसम बहुत गीला-गीला हो रहा था. बूढ़ी मारिया बेंच पर बैठ कर ट्राम के आने का इंतज़ार करने लगी. इस बीच कभी वह अपनी ब्रेड को निकाल कर देख लेती तो कभी अपने बटुए के बचे हुए पैसों को उंगलियों पर जोड़ने लगती. ट्राम लेने वालों की काफी भीड़ जमा हो गयी थी. ट्राम के आते ही बूढ़ी मारिया तपाक से उठी और भीड़ को चीरते हुए ट्राम के अंदर

जा कर आगे की खाली सीट पर बैठ गयी. आज न जाने कहां से उसमें इतनी फुर्ती आ गयी थी.

ट्राम चल दी. हर स्टॉप पर लोग चढ़ते रहे, उतरते रहे. मारिया आंखें बंद किये अपनी सीट पर बैठी रही. अंत में, ट्राम अपने अंतिम स्टॉप पर जा पहुंची. एक-एक करके सभी लोग उतर गये पर बूढ़ी मारिया आंखें बंद किये अपने सपनों की दुनिया में ही खोयी हुई थी. ट्राम का ड्राइवर ट्राम को वापस ले जाने के लिए जब पीछे से आगे की ओर आया तो उसने बुढ़िया से उतरने के लिए कहा. लेकिन बुढ़िया पर कोई असर न हुआ. ड्राइवर ने उसके कंधे पर हाथ रख कर फिर कुछ कहना चाहा, पर हाथ लगाते ही उसकी गर्दन एक ओर लटक गयी. उसका शरीर स्पंदन शून्य हो चुका था. आज वह चिर निद्रा में लीन हो गयी थी. न उसे सर्दी का भय था, न सर्दी के जूतों की आवश्यकता. अब वह उस लोक में जा पहुंची थी जहां फूल तो होते हैं, पर बेचने के लिए नहीं.

द्वारा भारतीय दूतावास, बुदापेश्त, हंगेरी, डी. बी. सेक्शन, विदेश मंत्रालय साउथ ब्लॉक, नयी दिल्ली - ११० ०११.
(अगस्त २००३ के बाद संपर्क : बी-२, सेक्टर २६, नोयडा २०१ ३०१)

लघुकथा

खुशबू

डॉ. सुरेंद्र गुप्त

आज रविवार का दिन था. पार्क में काफी भीड़ थी. मैं भी अपने परिवार के साथ गया हुआ था. एकाएक मेरी नज़र उन पर पड़ी. वह मेरे भाई के गिने-चुने मित्रों में से एक थे. यही कारण था उनका हमारे घर भी बहुत आना-जाना था. मैं उन्हें भी 'भा' कह कर ही बुलाता था. पार्क में घूमने मैं अकेला ही नहीं आया था, मेरे साथ मेरे अपने परिवार के अलावा एक मित्र का परिवार भी आया हुआ था. जैसे ही मेरी निगाह उन पर पड़ी, उन्हें मिलने की तीव्र उत्कंठ लिये, अपने परिवार को पीछे छोड़, मैं भीड़ को चीरता हुआ, कुछ ही क्षणों में उनके नज़दीक पहुंच गया तथा उन्हें पीछे से आवाज़ लगायी, 'भा जी...भा जी.'

एक चिर-परिचित आवाज़ कान में पड़ते ही उनके पैर वहीं रुक गये. उन्होंने जैसे ही पीछे मुड़ कर देखा उनके चेहरे पर एक अप्रत्याशित खुशी की लहर दौड़ गयी. वह कुछ क्षण मेरी ओर देखते रहे, फिर आगे बढ़ कर आशीर्वाद देते हुए मुझे अपनी बाहों में जकड़ लिया. इतने में मेरी पत्नी तथा बच्चे भी वहां पहुंच गये. तभी ममता से भीगे उनके कंठ से एक शब्द निकला था - 'अरे, चुन्नू...' इतने में मेरे तथा उनके परिवार वाले भी वहां पहुंच गये थे.

हर्षोल्लास से भरे हुए तभी वे अपनी पत्नी की ओर मुख करके बोले -'अरे पहचाना नहीं, अपना...चुन्नू !' ऐसा कहते हुए लगा था कि उनके ये शब्द हृदय के अंतःस्थल में से प्यार की भीनी-भीनी खुशबू में लिपटे निकल रहे हों.

मैंने नोट किया था कि मेरी पत्नी को उनका मेरे बचपन के नाम से पुकारना अच्छा नहीं लगा था. यह बात उन्होंने भी पकड़ ली थी. मैंने अपनी पत्नी के चेहरे पर उभरे भावों को पढ़ कर जान लिया था कि उसे इन लोगों से मिल कर कतई प्रसन्नता नहीं हुई. शायद उसके दिमाग में यह बात घर कर गयी थी कि ये लोग हमारे स्टेटस के नहीं, इसलिए वह मुंह सिकोड़ कर परे हट गयी थी. तभी पश्चाताप की सी मुद्रा में वे बोले थे - 'ओह...सॉरी, लगता है भई, आप लोगों ने मेरी बात का बुरा मान लिया. वास्तव में तुम्हारा बचपन का नाम ही अभी तक मुंह पर चढ़ा हुआ है. और सुनाइए मिस्टर रमेश, सुना है गाड़ी-वाड़ी ले ली है. लगा, चलो, अब आप मिल ही गये हो तो बधाई तो ले ही लो.'

मुझे उनका रमेश कहना बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगा था. जैसे किसी ने जीवन में कड़वाहट घोल दी हो. कितनी आत्मीयता थी, कितनी मिठास थी, कितना प्यार था, ममता थी, अपनापन था, उस एक शब्द 'चुन्नू' में.

वे अधिक देर तक रुके नहीं. न ही पहले की तरह किसी की कुशल क्षेम पूछी थी - 'लुधियाने वाले जीजा जी कैसे हैं ? दीपू की इंजीनियरिंग पूरी हो गयी या नहीं, छोटा तुम्हारे साथ दुकान पर ठीक से हाथ बंटाता है या नहीं. वह गंदी सोसायटी में उठने-बैठने लगा था, अब क्या हाल है आदि-आदि.' कितने ही प्रश्न थे जो वह खड़े-खड़े पूछ लिया करते थे. अर्थात पूरे घर के सदस्यों के विषय में जानकारी ले लेते थे. इस बार कुछ भी तो ख़ास बात नहीं कर पाये थे. मुख पर फीके से भाव लिये केवल मुझे आशीर्वाद देकर चुपचाप चले गये थे.

मैं लौटते हुए अंतर्द्वंद्व में डूबा रहा और सोचता रहा कि क्या इस तरह भी संबंध टूटते हैं. कहां तो उनके भीतर एकदम उतरा रीतापन और कहां उनका हमेशा की तरह प्यार से 'चुन्नू' कह कर पुकारना. याद नहीं आता 'चुन्नू' शब्द से टपकती आत्मीयता की इस भीनी-भीनी खुशबू ने मुझे कितनी बार भीतर तक छुआ था, कितनी बार सरोबार किया था और आज भी कितनी देर तक मेरे रोम-रोम को सहलाती रही थी.

आर. एन-७, महेश नगर,
अंबाला छावनी-१३३००१

मराठी कहानी

मनी ऑर्डर

उत्तम कांबळे

"प्रमिला, गांव से चिट्ठी आयी है."

डाकिया द्वारा फेंका लिफ़ाफ़ा उठाकर अशोक ने ऊंची आवाज़ में कहा. सोफ़े पर बैठकर कसीदा निकाल रही प्रमिला ने गरदन तनिक ऊपर उठायी. धागे से खेलते हुए वह फिर अपने कार्य में लीन हो गयी.

अशोक ने उसके नज़दीक बैठकर लिफ़ाफ़ा खोला. अंदर कॉपी के दो भरे हुए पन्ने थे.

"हां, पढ़ो..." प्रमिला ने बुना हुआ स्वेटर एक ओर रख दिया. उसने प्यार से कहा, "अशोक, मैं एक मज़ाक करूं ?"

"चिट्ठी पढ़ते समय कैसा मज़ाक ?" अशोक ने चिट्ठी की तह खोलते हुए कहा.

"मज़ाक ऐसा कि तुम चिट्ठी हाथ में पकड़ लो और मैं बिना देखे उसमें क्या है यह बताऊंगी. मज़ाक नहीं तो क्या ?"

"मज़ाक तो है लेकिन तुम चिट्ठी पढ़े बग़ैर कैसे बता पाओगी ?"

"तुम देखते रहना."

अशोक ने चिट्ठी हाथ में पकड़ ली. प्रमिला ने सोफ़े के कोने पर दांये हाथ की कुहनी रखी और उंगलियां गाल पर. कुछ पल वह खामोश रही. तत्पश्चात तुरंत हंसते हुए बोली, "हां, अशोक तो मैं चिट्ठी बिना पढ़े मजमून बताती हूं. चिट्ठी तुम्हारे पिताजी की है. उसमें लिखा है-

'चिरंजीव अशोक !

हम दोनों का आशीर्वाद. मेरी तबीयत अभी भी ठीक नहीं है. पता नहीं ज़िंदगी के कितने दिन शेष हैं. बेटा, बुढ़ापा बहुत दुखदायी होता है. अक्सर तुम्हारी, बच्चों और बहू की याद आती है. अब यादों के सिवा शेष है ही क्या ? अतः तुम सभी तुरंत यहां आ जाओ. एकाध दिन हमारे साथ रहो, बच्चों के साथ हमें जी बहलाने दो. मेरा इलाज जारी है. अब तक दो बार हृदय का दौरा पड़ चुका है. तीसरा कब पड़ेगा पता नहीं. डायबेटिस अलग तंग कर रही है. सांस अवरुद्ध होने से दम घुट जाता है. तुम्हारी मां घबराकर रोने लगती है. दौड़-धूप कर डॉक्टर को बुलाती है. डॉक्टर आता है और शरीर में सुइयां घुसेड़ता है. दवाइयों की लंबी सूची देता है. स्वतंत्रता आंदोलन में अनेक बार अंग्रेज़ों की मार खाने से शरीर चुस्त हो चुका है. अब तो सुइयों की चुभन भी महसूस नहीं होती. तुम्हारी मां विवश हो जाती है. कहती है, 'आपके बाद मेरा कैसे होगा ? मैं उसे धीरज देता हूं. बच्चों के लिए जीने की सलाह देता हूं. ख़ैर ! तुम जितना हो सके जल्दी निकलो, हम राह देख रहे हैं. तुम्हें गोंद के लड्डू पसंद आते हैं ना, इसलिए तुम्हारी मां भाग-दौड़ कर रही है. हम तुम्हारी राह देख रहे हैं. तुम्हें मिलकर तीन साल हो गये. अब तो आ ही जाओ.

तुम्हारे,

माता-पिता.'

"क्यों अशोक, यही है न चिट्ठी में ?" प्रमिला एक ही सांस में सब कुछ कह चुकी थी. अशोक ने चिट्ठी पर नज़र घुमायी. चिट्ठी तह कर जेब में रखते हुए बोला, "तुमने जैसे कहा लगभग वैसा ही. लेकिन इन लोगों की समझ में क्यों नहीं आता ?"

"क्या समझ में नहीं आता ?" प्रमिला ने पूछा.

"अरी, गांव जाना क्या इतना आसान है ? हम नागपुर में और वे मंगरूल के पास देहात में ! दो-ढाई दिन जाने में और उतने ही वापसी में लग जाते हैं. पानी की तरह रुपये बरबाद होते हैं. यात्रा में हड्डियां अलग से चूर हो जाती हैं. और इतना सब झेलने पर गांव में क्या है ? पिछड़ापन ? गंवारपन ? इससे बचने के लिए ही तो मैं उनकी चिट्ठी मिलते ही तुरंत मनीऑर्डर भेज देता हूं. तबीयत का खयाल रखने को कहता हूं. अच्छे से अच्छे डॉक्टर से इलाज करने की सलाह देता हूं. लेकिन पिताजी तो समझते ही नहीं ? मैं क्या यहां खाली बैठा हूं ? धंधा संभालते-संभालते नाक में दम आ जाता है. एक दिन लापरवाही करें तो भारी नुकसान उठाना पड़ता है. उसमें तुम्हारी भी नौकरी है. कितने झंझट उठाने पड़ते हैं, लेकिन प्रमिला, वे यह सब क्यों नहीं समझ पाते ?"

"जाने भी दो अशोक, अधिक चिंता मत करो." प्रमिला ने समझाने की कोशिश की.

"प्रमिला, बात सिर्फ़ इतनी नहीं है. ऐसी चिट्ठियों से मन उदास हो जाता है. काम में ध्यान नहीं लगता है. ग़लतियां होती हैं और उसकी भारी कीमत चुकानी पड़ती है."

"वे लोग यह नहीं समझ पायेंगे. तुम बेवज़ह परेशान हो रहे हो. दोपहर बाहर जाओ तो मनीऑर्डर भेज देना. शाम को हम घूमने चलते हैं, जिससे कुछ चेंज होगा."

"मेरा तो सिर चकरा रहा है. बाबा कभी भी अच्छी चिट्ठी नहीं लिखते. अक्सर शिकायतें ही होती हैं. तबीयत ठीक नहीं है, मैं अब अधिक दिन का साथी नहीं, तुम्हारी मां का क्या होगा. उसका भी स्वास्थ्य गिर रहा है. बुढ़ापे में तो यह चलता ही रहता है. मेरे उनके पास जाने पर क्या उनकी बीमारी दूर हो जायेगी या मैं उनका डॉक्टर बन जाऊं ? चिट्ठियों में अक्सर मुसीबतों का ज़िक्र होता है. हमें क्या यहां कम मुसीबतें उठानी पड़ती हैं ? इस पर भी हम रुपये भेजने में कभी लापरवाही नहीं करते. इस संदर्भ में कभी भी अच्छा नहीं लिखते. उलटा यह लिखते हैं - अब तुम बड़े हो चुके हो, अपने पंखों से उड़ान भर रहे हो. बेटा, अब हमारा क्या है, सूखे पत्ते की तरह हैं. पत्ता तो गिरने के लिए ही सूख जाता है. सूखी पत्तियों को तितर-बितर होना ही पड़ता है. प्रमिला मैं जानता हूं उनकी बातों में उपालंभ एवं टीका-टिप्पणी होती है."

"लेकिन तुम्हें चिंता करने की क्या ज़रूरत है ? हमें रोज़ाना क्या कम चिट्ठियां आती हैं. पढ़ना और भूल जाना. उन्हें लगता है कि हम पुरानी पद्धति से जीवनयापन करें. ज़रा-सी हलचल होते ही दौड़ते हुए उनके पास पहुंचे. उनके हाथ-पैर दबायें."

"मुझे तो लगता है कि वे बदलते माहौल को स्वीकार करने को ही तैयार नहीं हैं. यह तो अच्छा हुआ कि आजकल लिफ़ाफ़े में चिट्ठी भेजते हैं. पहले तो फैक्टरी के पते पर पोस्टकार्ड भेजते थे. फैक्टरी के लोग आसानी से पत्र का मजमून जान जाते थे. उनकी यह धारणा बन गयी थी कि मैं माता-पिता से स्नेह नहीं रखता हूं, उनके साथ बुरा व्यवहार करता हूं. बार-बार मिन्नतें करने पर लिफ़ाफ़ा इस्तेमाल करने लगे. उनकी उक्ति होती थी कि लिफ़ाफ़े पर अनावश्यक रुपये क्यों बरबाद करें ? लेकिन रुपये तो हम भेजते हैं ना ! इस पर भी वे मानते नहीं. वे ऐसा प्रचार करते हैं कि बेटे को मां-बाप का मुंह देखना पसंद नहीं. प्रमिला, वे हमारे जीवन की तनिक भी कल्पना क्यों नहीं करते ?"

"वे कैसे समझ पायेंगे ?" प्रमिला ने गंभीरता से कहा, "हम यहां रेस के घोड़े की तरह भाग रहे हैं. दौड़ना बंद होते ही जीवन ख़त्म हो जाता है. वे मात्र गांव में निश्चिंत हैं. न कोई टेन्शन, न कोई प्रॉब्लम. उपदेश करने में क्या लगता है ? उन्हें यह भी नहीं समझ में आता कि हम उस छोटे-से गांव में कैसे रह सकते हैं. घर में न बाथरूम, न पाखाना. आम के पेड़ तले बैठकर नहाना पड़ता है. रात में बकरियों-सा एक ही बिछावन पर सोना पड़ता है. और इसे ही वे आत्मीयता कहते हैं. वे यह नहीं समझते हैं कि यह पिछड़ापन है. सासू मां को कितनी बार समझाया कि हज़ार रुपये ख़र्च कर घर में पाखाना बनाओ. इस पर उन्होंने कहा, 'घर में ऐसी गंदगी ?' उनके साथ बातचीत करना एवं उन्हें समझाना असंभव है. उन्हें हमारा कुछ भी क्यों रास नहीं आता ?"

चिट्ठी के बहाने प्रमिला और अशोक को चर्चा के लिए विषय मिला. महिने में एकाध बार तो ऐसा होता ही था. दो-तीन दिन चिट्ठी का असर रहता और फिर धीरे-धीरे गांव उनके मन-मस्तिष्क से ओझल हो जाता. माता-पिता भी ओझल हो जाते. दोनों अपने-अपने कामों में उलझ जाते.

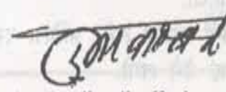

३१ मई, १९५६, टाकलीवाडी, शिरोल, कोल्हापुर (महा.)
बी. ए. (राजनीति)

लेखन : *कहानी संग्रह - रंग माणसांचे, कावळे आणि माणसं, कथा माणसांच्या; उपन्यास - श्राद्ध, अस्वस्थ नायक; आत्मकथा - वाट तुडवतानां; शोध ग्रंथ - भटक्यांचे लग्न, देवदासी आणि नग्नपूजा; अन्य - अनिष्ट प्रथा, कुंभमेळा साधूंचा की संधिसाधूंचा ?, प्रथा अशी न्यारी, नव्या शतकात संत साहित्य टिकेल काय ?, थोडस वेगळं, जागतिकीकरण आणि दलितांचे प्रश्न; संपादन - गजाआडच्या कविता.*

पुरस्कार : *महाराष्ट्र राज्य पुरस्कार, रत्नश्री पुरस्कार, यशवंतराव चव्हाण महाराष्ट्र मुक्त विद्यापीठ - बाबूराव बागूल पुरस्कार, ग. दि. माडगूळकर पुरस्कार, कुसुमाग्रज पुरस्कार, संत ज्ञानेश्वर पुरस्कार, युगांतर प्रतिष्ठान-बंधुमाधव पुरस्कार, लोकायत पुरस्कार, सुब्रह्मण्य साहित्य अकादमी, गणेश स्मृति पुरस्कार, मुंबई मराठी पत्रकार संघ पुरस्कार, डॉ. ना. भि. परुलेकर पुरस्कार, राज्य शासन पुरस्कार, महाराष्ट्र साहित्य पुरस्कार, दर्पण पुरस्कार, आगरकर पुरस्कार, बंधुता पुरस्कार, वा. ना. पंडित पुरस्कार, परिवर्तनवादी कवि पुरस्कार, प्रकाश शेठ शहा पुरस्कार, दया पवार साहित्य पुरस्कार.*

विशेष : *✻ महाराष्ट्र राज्य साहित्य संस्कृति मंडल, मुंबई तथा कई सामाजिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के सदस्य एवं संचालक ✻ जर्मनी, इंग्लैंड, इटली, स्विटजरलैंड, हॉलैंड, सिंगापुर, थाईलैंड, फ्रान्स आदि देशों की यात्रा ✻ मलेशिया में संपन्न जी-१५ राष्ट्रों की बैठक में उपराष्ट्रपति के साथ उपस्थित ✻ सामाजिक समारोह और परिसंवादों में व्याख्यान ✻ आकाशवाणी पर कई कार्यक्रमों का प्रसारण ✻ राजधानी तथा देश की महत्वपूर्ण घटनाओं का वृत्तांकन.*

संप्रति : *संपादक - दैनिक सकाल (उत्तर महाराष्ट्र आवृत्ति).*

अशोक उठ गया और उसने कपड़े बदले. हाथ में ब्रीफकेस लेकर वह बाहर निकला. प्रमिला ने कसीदे का साहित्य समेट लिया. स्कूल से बच्चों के लौटने में अभी देर थी. वह शॉपिंग के लिए चली गयी.

शाम को प्रमिला बच्चों के साथ घूमने गयी. अशोक एक फाइल में उलझ गया था. नौकरानी भोजन बना रही थी. प्रमिला बच्चों के साथ वापस आ गयी. उसके पीछे ही डाकिये ने प्रवेश किया. प्रमिला ने हस्ताक्षर कर गांव से आया तार लिया. पढ़े बग़ैर अशोक को सौंपते हुए कहा, "यह लो तार. चिट्ठी से बात बनी नहीं तो तार भेज दिया."

बच्चें लुकाछिपी खेलने लगे. प्रमिला रसोईघर में जाकर नौकरानी को सूचनाएं देने लगी.

अशोक ने फाइल एक ओर रख दी और तार उठाया. इस पर नज़र डालते ही वह जोर से चिल्लाया - "प्रमिला, पिताजी गुज़र गये."

प्रमिला दौड़ते हुए बाहर आ गयी. उसने अशोक को सहारा दिया. उसकी आंखों में भी आंसू भर आये. अशोक सिसकियां भरने लगा. बच्चे रो रहे माता-पिता की ओर टकटकी लगाकर देखने लगे.

प्रमिला ने आंखें पोछते हुए कहा, "अशोक, तुम अब निकलो."

"और तुम नहीं चलोगी ? अशोक ने कहा.

"मैं कैसे आ सकती हूं. बच्चों की परीक्षा नज़दीक आ गयी है. उनकी पढ़ाई का हरज़ाना होगा. डायरेक्टर बोर्ड की मीटिंग है इसलिए मैं छुट्टी भी नहीं मांग सकती. और हम सभी चले जायेंगे तो धंधा कौन संभालेगा ? दस-पंद्रह दिन तो लग ही जायेंगे. किसी को तो पीछे रहना भी आवश्यक है."

"ठीक है. मैं चलता हूं. तुम संभाल लो सब कुछ." अशोक अधिक बोला नहीं. पांच-दस मिनट में ही वह एक बड़ा बैग लेकर बाहर निकला.

वह तीसरे दिन गांव पहुंचा. कड़ी धूप में उसने गांव में प्रवेश किया. पूरा गांव शांत था. गर्मी के कारण रास्ता सुनसान था. अशोक तेज़ कदम उठाता घर की ओर बढ़ रहा था. दूर से उसने घर पर निग़ाह डाली. सिर पर खपरैल धारण किया सुंदर घर देखकर राहत मिली. लेकिन अब इस घर को बनानेवाले पिताजी के दर्शन होना असंभव था. अशोक घर के सामने आ गया. उसके मां को आवाज़ देते ही मां बिलखकर रोने लगी. अशोक भी रोने लगा. बरामदे में बैग रखकर वह अंदर गया. मां के पास बैठीं दो-तीन औरतें एक ओर हो गयीं. मां ने अशोक को छाती से लगा लिया. वह जोर से विलाप करने लगीं. रोते-रोते पिता का इतिहास दुहरा रही थीं, "बेटा अशोक, कितनी देर की. पिताजी को आखरी बार पानी पिलाने तो आ जाता. बेटा, पिताजी आखरी सांस तक तुम्हें याद करते थे. बच्चों से मिलने की इच्छा से उनका हृदय तड़प रहा था. पूरी ज़िंदगी उन्होंने तुम्हारी ही चिंता की. तुमने एक बार गांव छोड़ा तो इधर की ख़बर तक नहीं ली."

मां का विलाप जारी था. पड़ोसी औरतें मां को शांत करने की कोशिश करने लगीं.

विषय बदलने हेतु एक औरत ने अशोक से पूछा, "बेटा, तुम्हें चिट्ठी नहीं मिली ?"

"हां, मिली तो थी !" अशोक ने कहा.

"तो फिर तुम्हें जल्दी आना चाहिए था." वह औरत बोली.

"निकल ही रहा था लेकिन कुछ काम आ गया." अशोक ने कहा.

इस पर उस औरत ने गुस्सा होकर कहा, -"अरे काम तो ज़िंदगी भर चलते रहते हैं. लेकिन मां-बाप दुबारा नहीं मिल पाते. तुम्हारे सिवा उनका है ही कौन ? तुम उनकी इकलौती संतान हो. अंतिम दिनों में तो तुम्हें उनके पास होना चाहिए था ? काम किसे नहीं होते हैं बेटा ?"

"मौसी, मैं सब कुछ समझता हूं लेकिन काम ही कुछ ऐसा था कि... "

"बेटा, कुछ मत बताओ. मनुष्य से भी महत्वपूर्ण होते हैं तुम्हारे काम ! अरे, तुम्हारे पिताजी को गुज़रकर छः दिन हुए और तुम अब आ रहे हो ! तुम्हारी मां पर क्या बीती होगी ? वह किसे देखकर जी पायेगी. पति की मृत्यु का दुख कैसे सह पायेगी ! उसे कौन देगा धीरज ? बेचारी विधवा हो गयी. लेकिन तुमने ख़बर तक नहीं ली ?" वह औरत अशोक को बोलने का मौका ही नहीं दे रही थी.

अंततः अशोक की मां ने कहा, "जाने दो शारदा, उस पर क्यों ख़फ़ा हो रही है. दूर से आया है. किसे पता कब खाना खाया है ? उसे चाय दो ! हाथ-पांव धोने के लिए पानी दो !"

अशोक का दम घुट रहा था. वह चुपचाप उठा और गुसलखाने में जाकर हाथ-पांव धोकर आ गया. वह चारपाई पर दीवार से पीठ सटाकर बैठ गया. मां की सिसकियां रुकने का नाम नहीं ले रही थीं. अत्यधिक रोने से उसकी आंखों में सूजन आ गयी थी. उसका माथा सफेद था. हाथ की चूड़ियां नदारद थीं. गला सूना था. मां को सफ़ेद साड़ी में देखकर अशोक को पीड़ा हो रही थी. मां उठ गयी. उसके साथ औरतें भी उठ गयीं. मां को धीरज देते हुए वे अपने-अपने घर चली गयीं. मां ने टीन की संदूकची खोलकर एक लिफ़ाफ़ा बाहर निकाला और अशोक के हाथ में दिया.

"मां, इसमें क्या है ?"

"मुझे पता नहीं. तुम्हारे पिताजी ने तुम्हारे लिए छोड़ा है." मां आंसू पोंछते हुए बोलीं.

(कृपया शेष भाग पृष्ठ ४८ पर देखें)

विशेष आलेख

*यह लेख लगभग १७ वर्ष पूर्व लिखा गया था. समय-समय पर '**कथाबिंब**' के संपादकीय '**कुछ कही, कुछ अनकही**' में प्रस्तुत विचारों पर यह आधारित था. इसे मैंने अपने विक्टोरिया प्रवास (१९८९-१९९०) में पूरा किया था और स्वच्छ छवि वाले तात्कालीन प्रधानमंत्री श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह को भेजा था. इस लेख की एक प्रति **श्री कमलेश्वर** जी को भी भेजी थी जिन्होंने यह लेख **'गंगा'** (नवंबर १९८९) में प्रकाशित किया. बाद में, शायद १९९६ में एक कार्यक्रम में **श्री लाल कृष्ण अडवाणी** से भेंट करने का अवसर मिला तो उन्हें भी इस लेख की एक प्रति भेंट की.*

यह लेख तब लिखा गया था जब निजी कंप्यूटर (पीसी) का इस्तेमाल प्रारंभ ही हुआ था. तबसे लेकर आज तक निजी कंप्यूटर की क्षमता में अतुलनीय वृद्धि हुई है और उसका उपयोग ऐसे अनेक क्षेत्रों में होने लगा है जिसकी तब कल्पना भी नहीं की जा सकती थी. मध्यमवर्गीय परिवारों के लिए टीवी, फ्रिज, वाशिंग मशीन की तरह ही पीसी भी आज एक ज़रूरत बन गया है. इसका एक कारण कीमतों में भारी गिरावट आना भी है. डॉट कॉम, इंटरनेट, और ई-मेल आज सामान्य बोल-चाल के शब्द हो गये हैं. छोटे-छोटे कस्बों और शहरों में आज टेलीफोन सुविधा उपलब्ध है. रही-सही कसर मोबाइल फोनों ने पूरी कर दी है. पीसी को फोन से जोड़कर अब आप दुनिया के किसी कोने से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं.

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में, प्रस्तुत लेख में सुझाये विकल्पों पर और अधिक कारगर तरीके से काम किया जा सकता है. बहुत-सी बातों को लेकर जनसामान्य में जागरूकता बढ़ी है - जैसे कचड़े का पुनर्चक्रण, वर्मीकल्चर या कंपोस्टिंग द्वारा कचड़े का निपटान कर खाद बनाना, पेड़ लगाना, बरसात के पानी को सहेज कर उसकी 'खेती' (वाटर हारवेस्टिंग) करना आदि.

*लेख में सड़कें बनाने की बात भी की गयी है. इस दिशा में तेजी से काम शुरू होगया है. बड़ी-बड़ी नहरों द्वारा देश की नदियों को जोड़ने के बारे में भी सोचा जा रहा है. इस सबके साथ ही यदि प्रस्तावित **समन्वित राष्ट्रीय उत्थान कार्यक्रम** को भी अमली जामा पहनाया जाये तो शीघ्र ही बहुत अच्छे परिणाम सामने आयेंगे और हमारा देश बहुत जल्दी विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आ खड़ा होगा.*

भारत में भारत को खोजिए : बनाम विकसित भारत का ब्लू प्रिंट

मैं कोलंबस नहीं हूं, क्योंकि मैं किसी नयी दुनिया की खोज नहीं करना चाहता. भारत में ही भारत को ढूंढ़ने की कोशिश है मेरी. एक अर्सा हुआ उत्तर प्रदेश के एक कस्बे फतेहगढ़ से महानगर बंबई आया और अब महानगर से कनाडा के शहर विक्टोरिया. विक्टोरिया शहर कहने को तो ब्रिटिश कोलंबिया प्रांत की राजधानी है, पर एक सुंदर और विशाल कस्बा है - वैंकूवर द्वीप के दक्षिणी छोर पर बसा हुआ.

डॉ. अरविंद

मुझसे पहले हज़ारों-लाखों लोग पश्चिमी दुनिया आये. कुछ यहीं बस गये और जो लौटे भी वे विदेशी सुख-सुविधाओं के सपनों में डूबे रहे. महानगर में रहते हुए भी मैं यही सोचा करता था कि कैसे भारतीय गांवों-कस्बों की तस्वीर बदली जा सकती है. कैसे कस्बों को नगरों में और नगरों को महानगर बनने से रोकना संभव है. परिवर्तन अवश्य आना चाहिए और बहुत जल्दी, क्योंकि निराशा और हताशा में जीता आम आदमी हर दिन और अधिक टूटता जा रहा है. पर यह परिवर्तन अस्वाभाविक रूप से नहीं लाया जा सकता. फैलते हुए महानगरों के रूप में कॉन्क्रीट के जंगल दरअसल हमें कुछ नहीं देते - सिवाय महंगाई, कृत्रिम अभाव और वातावरण प्रदूषण.

यदि हम अपनी सारी योजनाएं देश की भौगोलिक स्थिति, जलवायु, प्राकृतिक संपदा और अपार जनशक्ति को ध्यान में रखकर बनायें तो सारी जटिल समस्याओं का समाधान जल्दी ही प्राप्त हो सकता है. ब्रिटेन, रूस, अमरीका या यूरोपीय देशों में जो टेक्नोलॉजी सफल हुई है वह भारत में भी सफल होगी यह कहना कठिन है. अपनी आवश्यकताओं को सही ढंग से रेखांकित करते हुए हमें प्राथमिकताओं पर पुनः विचार करना चाहिए. भास्कर, आर्यभट्ट, अंटार्कटिका, रॉकेट प्रक्षेपण अभियान, न्यूक्लीय ऊर्जा कार्यक्रम, लेसर फ्यूजन आदि - ये सब हमारी मौलिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते.

सुरसा के मुख की तरह बढ़ने वाली जनसंख्या भारत की प्रमुख समस्या है. बेरोज़गारी-भुखमरी को मूलतः यही जन्म देती है. अब तक हम समस्या को टुकड़ों में सुलझाने की कोशिश करते रहे हैं. मूल कारणों में न जाकर हम काम-चलाऊ और सतही समाधान खोज लेते रहे हैं. इस तरह मुख्य समस्या बिना सुलझे रह जाती है तथा कुछ नयी समस्याएं जन्म ले लेती हैं. कभी भी दीर्घकालीन फायदे या हानि की ओर हमारा ध्यान गया ही नहीं. देश के एक भाग में बाढ़ से त्राहि-त्राहि और कहीं सूखे की मार - पानी के लिए चिंतित लोग. भागकर जा पहुंचे दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास या बंबई - महानगरों के सीमित साधनों पर अनचाहा बोझ बनने. एकमात्र हल है देश के सभी भागों, सभी अंगों का एक साथ विकास. पर यह कैसे संभव है ? कौन करेगा यह ?

यदि हम अपनी सारी योजनाएं देश की भौगोलिक स्थिति, जलवायु, प्राकृतिक संपदा और अपार जनशक्ति को ध्यान में रखकर बनायें तो सारी जटिल समस्याओं का समाधान जल्दी ही प्राप्त हो सकता है. ब्रिटेन, रूस, अमरीका या यूरोपीय देशों में जो टेक्नोलॉजी सफल हुई है वह भारत में भी सफल होगी यह कहना कठिन है. अपनी आवश्यकताओं को सही ढंग से रेखांकित करते हुए हमें प्राथमिकताओं पर पुनः विचार करना चाहिए.

एक बार, ऐसे ही मित्रों से चर्चा हो रही थी. एक मित्र ने कहा कि वह देश को सुधार सकता है, बशर्ते उसे सौ शिवाजी दे दिये जायें. यह तो मज़ाक की बात हो गयी. वैसे, देश के सुधार की बात हर कोई करता है. दूरदर्शन और आकाशवाणी पर प्रचारित आंकड़ों पर अगर आप विश्वास करें तो वाकई लगेगा, 'सारे जहां से अच्छा हिंदुस्तां हमारा.' रूसी उपग्रह में किराये की सवारी करते हुए राकेश शर्मा ने भी तोते की तरह यही कहा था - पर काश ऐसा ही होता !

विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में अब तक हमने जो तथाकथित उपलब्धियां पायी हैं उनसे आम आदमी का सीधा सरोकार नहीं है. मात्र इतना कि कुछ लोग इसी बहाने सरकारी नौकरियां पा गये हैं. हमारी सारी समस्याओं का समाधान आज भी विज्ञान द्वारा हो सकता है. दरअसल यही एकमात्र विकल्प है. शर्त यह है कि हम अपनी वर्तमान ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उसका इस्तेमाल करें. ऐसे समाधान खोजें जो अन्य समस्याओं को जन्म न दें. देश के गांव और कस्बे के पास हमें ऐसे '**विज्ञान कम्यून्स**' बनाने होंगे जो ऊर्जा और रोज़गार की दृष्टि से आत्मनिर्भर हों और जिनमें अधिकांशतः स्थानीय कच्चे माल और स्थानीय संसाधनों का उपयोग किया जा सके. विज्ञान कम्यून्स की समस्त गतिविधि वैज्ञानिक पद्धति और चिंतन पर आधारित हो. कई छोटी इकाइयों को मिलाकर हज़ार से पांच हज़ार लोगों की एक बड़ी इकाई को सहयोगी संस्था के रूप में संचालित करना होगा.

विज्ञान कम्यून : एक परिकल्पना

विज्ञान कम्यून की संकल्पना का आधार अनुप्रायोगिक विज्ञान या अप्लाइड विज्ञान है. इसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए सरकारी, गैर-सरकारी, स्वयंसेवी सभी तरह की संस्थाओं को एकजुट होकर काम करना होगा. आवश्यक हो तो दो-तीन वर्ष तक आर्थिक इमरजैंसी लागू की जा सकती है. इस अवधि में हर स्रोत और हर संसाधन को राष्ट्र निर्माण के उपयोग में लाया जाये. योजना को पूरा करने के लिए काफी संख्या में वैज्ञानिकों और इंजीनियरों की भी ज़रूरत होगी. राष्ट्रीय विज्ञान संस्थाओं और प्रयोगशालाओं से कुछ अवधि के लिए, अस्थायी रूप में, योजना के प्रारंभिक चरण में भाग लेने हेतु अनेक व्यक्तियों को बुलाया जा सकता है. जिला अधिकारी या उसी स्तर के विशेष अधिकारी को ज़िले की इकाइयों के संयोजक (को-ऑर्डिनेटर) का कार्यभार दिया जाये. वही उनके सुचारु संचालन का पूरी तरह उत्तरदायी हो. सारी सरकारी अनुमतियां, अनुज्ञाएं दिलवाने का वही जिम्मेदार हो - एक काउंटर से आवश्यक सारे ऋण, लाइसेंस, परमिट आदि उपलब्ध करवाये जायें.

पहला चरण :

सर्वप्रथम, देश के सभी प्रांतों के वे हिस्से चुने जायें, जहां पानी बिजली और छोटे-मोटे काम-धंधों के लिए पास ही कच्चा माल उपलब्ध हो. थोड़ी-बहुत खेती की संभावना भी हो लेकिन ज़मीन को अब तक पूरी तरह उपयोग में नहीं लाया गया हो. इसमें भारतीय सर्वेक्षण विभाग की सहायता ली जा सकती है. पहले चरण में, हर जिले में २५-३० एकड़ ज़मीन वाले १० विज्ञान कम्यून स्थापित किये जायें. इनमें १०० परिवारों के रहने, काम करने और वैज्ञानिक पद्धति अपनाकर खेती करने की पूरी सुविधाएं हों. शुरू के छः महीने ८-१० प्रशिक्षित व्यक्तियों का दल हर इकाई में रहकर मार्गदर्शन दे. ज़रूरी नहीं है कि हर ज़िले में इतनी ज़मीन खाली पड़ी हो इसलिए जिन किसानों की ज़मीन योजना के अंतर्गत लेनी आवश्यक हो उन्हें भी कम्यून के सहकारी सदस्य के रूप में ले लिया जाये. इसके अलावा इकाई हेतु स्थानीय परिवार ही चुने जायें. ऐसे व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जाये, जिन्होंने नसबंदी करवा ली हो या एक निश्चित अवधि में करवाने को सहमत हों और जिनका परिवार सीमित हो. बाद में इन्हें एक ग्रीन कार्ड या 'हरित-पत्र' दिया जा सकता है जिससे कुछ विशेष सुविधाएं मिलती रहें - जैसे निःशुल्क शिक्षा और चिकित्सा, बैंक से कम ब्याज पर ऋण इत्यादि की सुविधा आदि. सदस्य के रूप में लिये जाने वाले पुरुष की शिक्षा अधिक से अधिक ८वीं कक्षा तक और मासिक

आय ३०० - ५०० रूपये या उससे कम. शिक्षा और आर्थिक आधार की सीमा के अलावा जाति का कोई आरक्षण न हो.

ऊर्जा के मूल आधार के रूप में हर इकाई में चार-पांच बड़े गोबर गैस संयंत्र (डाइजेस्टर्स) स्थापित किये जायें जिनकी गैस-उत्पादन क्षमता को रोशनी और खाना बनाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है. ऊर्जा का कुछ अंश छोटे उद्योगों के लिए उपयोग किया जा सकता है. गोबर गैस संयंत्रों से प्राप्त होने वाली खाद का इस्तेमाल खेती में होगा ही. यदि संभव हो तो सौर ऊर्जा संयंत्र भी स्थापित किये जायें. पानी की आपूर्ति नलकूपों के माध्यम से हो. ऊर्जा की अधिक आवश्यकता होने पर यदि विद्युत चौबीस घंटे उपलब्ध न हो तो तेल पर चलने वाले जनरेटर भी लगाये जा

हमारी सारी समस्याओं का समाधान आज भी विज्ञान द्वारा हो सकता है. दरअसल यही एकमात्र विकल्प है. शर्त यह है कि हम अपनी वर्तमान ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उसका इस्तेमाल करें. ऐसे समाधान खोजें जो अन्य समस्याओं को जन्म न दें.

सकते हैं. चिकित्सालय, पुस्तकालय, कंप्यूटर केंद्र, सामूहिक टी. वी. अवलोकन केंद्र आदि की सुविधाएं स्वतंत्र रूप से या ऐसी ही दो-तीन इकाइयों को मिलाकर उपलब्ध करायी जायें. स्थान विशेष की पैदावर और खनिजों आदि की उपलब्धि को ध्यान में रखकर अनेक कुटीर उद्योग लगाये जा सकते हैं - साबुन, तेल पिरोना और शुद्धीकरण, डेयरी, कपड़ा (हाथ करघा), चर्मकर्म, कागज़ बनाना (हैंडमेड पेपर आदि), बिजली का छोटा सामान, प्लास्टिक का सामान - बड़े उद्योगों में लगने वाला अधिकांश छोटा-मोटा सामान इन इकाइयों में बनाया जा सकता है. इससे कीमतों में भारी कमी आयेगी. ऐसी चीज़ें जो इन इकाइयों में बन सकती हैं, बड़े उद्योगों को बनाने की अनुमति नहीं होनी चाहिए. साबुन और नमक टाटा कंपनी बनाये और जूते बाटा, तो महंगे तो होंगे ही !

एक संयोजक के रूप में जिला अधिकारी की देखरेख में सारा काम होना चाहिए - कैसे सहकारी संस्था के अधिकारी चुने जायें, आवास व अन्य सुविधाओं का निर्माण, ऋण संबंधी सभी औपचारिकताओं का शीघ्र निपटान, गोबर गैस संयंत्रों की स्थापना और उनकी देखरेख की व्यवस्था, मार्केटिंग, मूल्य-निर्धारण और गुणता नियंत्रण यह सारा कार्य वही देखे.

विज्ञान कम्यून की रूपरेखा यहां एक प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत की गयी है. हर बात को यहां न सूक्ष्मता से लिया जा सकता है और न ही सोचा जा सकता है. योजना को पहले हमें सिद्धांत रूप में स्वीकार करना चाहिए. एक कार्य अवधि निश्चित करनी चाहिए और उसी के अनुसार २ - ३ साल के अंदर पूरी

ऊर्जा के मूल आधार के रूप में हर इकाई में चार-पांच बड़े गोबर गैस संयंत्र (डाइजेस्टर्स) स्थापित किये जायें जिनकी गैस-उत्पादन क्षमता को रोशनी और खाना बनाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है. ऊर्जा का कुछ अंश छोटे उद्योगों के लिए उपयोग किया जा सकता है. गोबर गैस संयंत्रों से प्राप्त होने वाली खाद का इस्तेमाल खेती में होगा ही.

गंभीरता से एक *'समन्वित राष्ट्रीय उत्थान कार्यक्रम'* के अंतर्गत इसे सफल बनाने का प्रयास करना चाहिए. यदि वर्ष १९८९ में योजना की पृष्ठभूमि तय हो जाती है तो ज़नवरी १९९० से लेकर तीन वर्ष में *(ये तीन वर्ष अब २००४ से २००७ भी हो सकते हैं)* सारे राष्ट्र का पूर्ण उत्थान संभव है. इकाइयों द्वारा सुचारु रूप से कार्य प्रारंभ कर देने पर हमें अनेक क्षेत्रों में और अनेक स्तरों पर परिवर्तन दिखने लगेंगे. बेरोज़गारों की संख्या में कमी, जनसंख्या पर नियंत्रण, गरीबों के शोषण पर अंकुश, जातीय, प्रांतीय, भाषाई दंगों में कमी, महानगर की ओर पलायन में कमी, यातायात साधनों पर कम भार, जीवाश्म ईंधन की बचत, वनों की सुरक्षा, विद्युत आपूर्ति में वृद्धि, अधिक उत्पादन, महंगाई पर अंकुश, भ्रष्टाचार के राक्षस से मुक्ति - इस तरह अंततः एक नये समाज के विकास की प्रक्रिया का प्रारंभ होगा. *(कंप्यूटर के माध्यम से सभी विज्ञान कम्यून एक-दूसरे से संपर्क रख सकते हैं. सब मिलकर एक नेटवर्क के रूप में काम कर सकते हैं. प्राप्त अनुभवों का आदान-प्रदान केंद्रों को सुचारु रूप से चलाने में मददगार होगा. कहां क्या उत्पादित हो रहा है, उसका वितरण आवश्यकता के अनुसार किया जा सकता है. सभी कामों में कंप्यूटर की मदद ली जा सकती है.)*

दूसरा चरण :

विज्ञान कम्यूनों की स्थापना के साथ-साथ देश की नदियों के जल का प्रबंधन भी पर्याप्त महत्व का विषय है. हर वर्ष जिन नदियों में बाढ़ आती है नहरें बनाकर उनका संबंध ऐसी नदियों से जोड़ा जाये जहां बरसात के दिनों या उसके बाद भी पानी नहीं रहता. इसके लिए कई ज़गहें पानी को निचले स्तर से पंप करके ऊपरी स्तर पर ले जाना होगा. इस कार्य के लिए भी काफी

भारत का हर व्यक्ति उद्यमी और मेहनती है किंतु जब उसे लगता है कि मेहनत करने से भी उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति में अंतर नहीं आयेगा तो या तो वह चुपचाप ग़रीबी को अपनी नियति मान लेता है या फिर ग़लत माध्यमों से पैसा कमाने के तरीके ढूंढ़ता है.

आदमियों की आवश्यकता होगी. इस कार्य को तुरंत प्राथमिकता मिलनी आवश्यक है. बड़े पैमाने पर पेड़ों को लगवाना, सड़कें बनवाना और ज़गह-ज़गह कुयें खुदवाना कुछ अन्य काम हो सकते हैं, जिनसे बहुत से लोगों को रोज़गार उपलब्ध हो सकता है. इस प्रकार अब तक सुस्त पड़ी जनशक्ति के देश-निर्माण में भाग लेने पर जल्दी ही राष्ट्र की आर्थिक स्थिति में अपेक्षित सुधार होगा. अगले पांच वर्षों के लिए देश का अधिकांश बजट इन्हीं कार्यों के लिए उपलब्ध करवाया जाये. इसके बाद बड़ी-बड़ी योजनाओं के लिए अपने आप पैसा मिलने लगेगा.

भारत का हर व्यक्ति उद्यमी और मेहनती है किंतु जब उसे लगता है कि मेहनत करने से भी उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति में अंतर नहीं आयेगा तो या तो वह चुपचाप ग़रीबी को अपनी नियति मान लेता है या फिर ग़लत माध्यमों से पैसा कमाने के तरीके ढूंढ़ता है. यदि युद्ध स्तर पर, पूरे देश में, व्यापक कार्यक्रम शुरू होता है तो हर छोटा-बड़ा आदमी अपना योगदान करने सामने आयेगा, ऐसी मेरी मान्यता है.

ऊर्जा के विकल्पीय स्रोत के रूप में भारत को न्यूक्लीय ऊर्जा बहुत महंगी पड़ रही है. वैसे भी बीसवीं सदी समाप्त होते-होते ऊर्जा की तत्कालीन आवश्यकता का मात्र १० प्रतिशत भी न्यूक्लीय ऊर्जा से पूरा करना संभव नहीं होगा (*यह बात सच साबित हुई है*). इस हेतु अरबों रुपये खर्च करके बृहत आकारीय न्यूक्लीय रिएक्टर रूस से खरीदने की योजना है. औद्योगिक और कृषि उत्पादन के लिए सतत ऊर्जा प्राप्ति के लिए फिलहाल हमें जल विद्युत, कोयला, पेट्रोलियम पदार्थ और गोबर गैस पर ही पूरा ध्यान देना चाहिए. ऐसा कानून बना देना चाहिए कि चाहे गांव हो या शहर जिसके पास ५० से अधिक गाय-भैंसें हैं उसे गोबर-गैस संयंत्र लगाना ही होगा. यहां तक कि मुंबई जैसे महानगर में सैंकड़ों तबेले हैं जिनका बहुत सारा गोबर गड्ढों में सड़ता रहता है या नाली में बह जाता है. यहां भी वही नियम लागू करना चाहिए. मुंबई में असंख्य लोग नित्यकर्म के लिए सड़कों पर जाते हैं. यह वहां की विकटतम समस्या है. वस्तुतः ऐसे डाइजेस्टर संयंत्र बनाये जा सकते हैं जिनमें मानव-मल और मवेशी-मल को मिलाकर गैस बनायी जा सकती है जिससे और कुछ नहीं तो कुछ स्ट्रीट लाइट्स तो जलायी ही जा सकती हैं. यह अनुसंधान का एक मौलिक क्षेत्र है. दो या तीन किलोमीटर पर जनता-सुविधाएं बनाकर यदि ऐसे डाइजेस्टर लगा दिये जायें तो एक बहुत ही जटिल समस्या का समाधान हो सकता है. मुंबई में हज़ारों टन कूड़ा रोज फेंका जाता है. मानसून के दिनों को छोड़कर कूड़े से भी ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है. इससे गंदगी के निपटारे के साथ प्रदूषण के स्तर में भी कमी आयेगी.

और अंत में ...

तालों-तालाबों में या कहीं भी रुके पानी में सारे देश में अनेक ज़गह जलकुंभी ('वाटर हायसिंथ') बहुत तेजी से फैलती हुई दिखाई देती है. एक बार तालाब में पड़ जाये तो इससे छुटकारा पाना मुश्किल होता है इसलिए सामान्यतः इसे जड़ से निकालकर जला दिया जाता है. वस्तुतः जलकुंभी एक प्राकृतिक वरदान है. यह पानी में से कार्बनिक पदार्थ को अवशोषित करती रहती है. जलकुंभी को गोबर गैस संयंत्र (डाइजेस्टर) में इस्तेमाल करके ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है. इसे ऐसे स्थानों पर भी उगाया जा सकता है जहां औद्योगिक अवशिष्ट पानी में छोड़ दिये जाते हैं. इस तरह जलकुंभी के माध्यम से ऊर्जा प्राप्ति के साथ ही प्रदूषण पर भी नियंत्रण में सहायता मिल सकती है.

मानवीय मल और जलकुंभी पर आधारित डाइजेस्टरों पर संभवतः अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, इसलिए इन क्षेत्रों में और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है किंतु गोबर गैस संयंत्रों का आधार लेकर स्थापित विज्ञान कम्यून निश्चय ही बिना अधिक समय खोये राष्ट्र-निर्माण में सत्वरता प्रदान कर सकते हैं.

घर-परिवार के लिए एक ज़रूरी पत्रिका **कथाबिंब**

'कथाबिंब' आपकी अपनी पत्रिका है, इसे ख़ुद पढ़ें और मित्रों को पढ़ायें.

कहानी

नामांतरण

'सरकार' कह कर किसी को संबोधित करने का चलन अब गावों तक में भी नहीं, फिर भी वे मुझे सरकार कहते हैं. मजा देखिए वे मुझसे आठ-दस साल बड़े हैं, वित्त-पोषित विद्यालय के प्रधानाचार्य हैं एवं बीसियों किताबों के संपादक हैं, या तो संकलनकर्ता. अब जो बीसियों किताबों का निर्माण कर सकता है, भला वह काहे नहीं प्रकाशक होगा ? मेरे दिल्ली, इलाहाबाद के प्रकाशक, समीक्षा छपवाने के लिए 'पक्षी' नामधारी पत्रिकाओं के दफ़्तरों के चक्कर लगाते रहे. बहरहाल वे किसी दफ़्तर वग़ैरह का चक्कर नहीं लगाते. वे जानते हैं कि पत्रिकाएं पेट-काटकर निकाली जाती हैं, सो उनके यहां वह सब तो न मिलेगा जो शिक्षा विभाग, संगीत अकादमी या संस्थानों वग़ैरह से मिल सकता है, मिलता है.

संस्थानों आदि से मिलने वाले पुरस्कारों की राशि इतनी कम नहीं होती कि किताबों के प्रकाशन का खर्च न निकल जाय. शिक्षा विभाग के दफ़्तरों की नव संस्कृति का लाभ उठाते तथा पुरस्कार वग़ैरह हासिल कर लेते... इतना ही नहीं एक ही समय व कार्यालयावधि में यदि वे विद्यालय में हाज़िर होते तो दूसरी तरफ कहीं कोई कार्यशाला भी करवा रहे होते... सो वे एक समय में एक काम करने वाले संकीर्ण व्यक्ति न थे.

वे मुझे बहुत सम्मान देते तथा गोष्ठियों या सभाओं में एक दो मिनट मेरे व्यक्तित्व की चर्चा में खर्च देते... सभा में उपस्थित कुछ लोगों को यह बुरा लगता... सो वे लोग भुन-भुना कर रह जाते तथा वक्ता-मंच तक कभी न पंहुच पाते... वैसे कोई आज की तारीख में मूर्ख तो नहीं जो हम दोनों की अन्योन्याश्रिता न भांप ले...

हक़ीकतन हम दोनों में अन्योन्याश्रिता तो कतई न थी, हो भी नहीं सकती थी. यह तो मुझे बहुत लंबे अंतराल के बाद मालूम हुआ कि वे मुझे 'सरकार' कह कर क्यों संबोधित करते हैं तथा... सम्मान वग़ैरह देते हैं.

दरअसल मेरी पारिवारिक पृष्ठभूमि सामंती रही है, जमींदारों वाली... मेरे बाबा अंग्रेज़ों की कृपा से स्थानीय राजा से टकराने की क्षमता रखते थे... लोग बताते हैं कि जब वारेन हेस्टिंग्स बनारस के राजा चेतसिंह को नेस्तनाबूत करने के अभियान पर था, उस समय वह मेरे गांव में आया था. उसका पड़ाव गांव के पोखरे पर था, उसने बाबा से चेतसिंह को ध्वस्त करने के बारे में सलाह मशविरा किया था. हुआ यह कि बाबा ने वारेन हेस्टिंग्स के पहुंचने के पहले ही चेतसिंह को ख़बर कर दी... चेतसिंह किला छोड़कर रीवां की तरफ़ कहीं भाग गये... वारेन हेस्टिंग्स का पड़ाव मेरे गांव के पोखरे पर पड़ा था कि नहीं... इसे कौन साबित कर सकता है आज. फिर भी यह तो है ही सोचने लायक कि पोखरे वाली बस्ती का नाम 'गोर डीहवा' कैसे पड़ गया... पोखरे का भीटा काला, अगल-बगल की मिट्टी काली, माटी की दीवारें पुती न हुईं तो वे भी काली... यह तो अचरज ही कहा जायेगा कि जमींदार का परिवार सीमांत जोतों तक सिमट कर सीमांत कृषक हो जाये. मेरे बाबा परिवार वृद्धि रोकने वाले आदमी न थे. उनके पांच पुत्र हुए... पांचों बालिग थे जब जमींदारी टूटी... पांचों को कानून के मुताबिक जमीन मिली... बाद में पांचों पुत्रों के कुल सत्रह पुत्र हुए... इन्हीं में से एक मैं हूं.

रामनाथ शिवेंद्र

तो क्या यह सब वे नहीं जानते या जान-बूझ कर मेरा उपहास करते हैं... इस बारे में मैं कभी विचारता ही नहीं... मान-अपमान का फ़र्क समझने में मैं कभी माहिर भी नहीं रहा. वे जब मुझे सरकार कह कर संबोधित करते तब मुझे उनके संबोधन में विचारने लायक कुछ न सूझता. सो मैं प्रतिक्रियाहीन रहता... नहीं तो व्यंग्यात्मक संबोधन को बर्दाश्त करने की शक्ति सभी में होती कहां है ? वैसे भी वे मुझसे बड़े थे, नाम-धाम वाले थे, उनसे मेरी पटती भी खूब थी...

मेरे एक चाचा थे, गांव उन्हें सत्याग्रही जी के नाम से जानता था. गांधी जी से प्रभावित होकर उन्होंने, सविनय अवज्ञा व असहयोग आंदोलन में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था...कई बार जेल भी गये थे... खान-पान, वेश-भूषा सब में गांधीवादी थे... एक दिन गांव में एक घटना घट गयी... घटना भी बहुत बड़ी नहीं, जिस पर थाना आता... हुआ यह था कि कुछ गरीब लोगों ने साखू का पेड़ काट गिराया था, कच्चे मकान के छाजन के लिए. देश आज़ाद हो चुका था, चाचा समझते थे कि सही अर्थों में आजादी मिल गयी है सो वे भिड़ गये सिपाहियों से... जो गिरफ़्तारी के लिए गांव में आये थे...

चाचा ठहरे देश भक्त... जज़्बा पुराना था, नियति पुरानी थी, समझते थे कि सरकार गाय की तरह होगी... पूज्यनीय व पवित्र... दूध भी देगी बछड़ा भी, जिससे खेती बारी होगी... बछिया होगी तो बड़ी होकर गाय बन जायेगी. उन्हें क्या पता... कि

सिपाहियों को सरकारी काम-धाम से रोक देना अपराध होता है, वह भी गिरफ़्तारी के समय... फिर सिपाहियों ने भी तो... सुलह समझौते की बातें की थीं. जमाना महंगी का था.. कुल बीस-पच्चीस रुपये में मामला रफ़ा-दफ़ा होना था. वैसे बीस रुपये उस ज़माने में गरीब क्या बड़े भी न दे पाते... ख़ैर चाचा चाहते तो बीस रुपये दे-दिला देते तथा थाने का कृपा-पात्र भी बने रहते... चाचा के पास शायद समय का ज्ञान न था... सो उन्होंने घूस लेने के मामले को सामान्य सी मार-पीट में बदल दिया... दोनों सिपाहियों को दो-दो झापड़ लगा दिये...

थानेदार देश भक्ति में चाचा से कम न था. यदि थोड़ा बहुत कम भी था तो क्या ? उसके पिता खूनी क्रांतिवाले थे... चंद्रशेखर आजाद के सहयोगी... किसी ज़माने में अंग्रेजों ने उन्हें मार गिराया था... सीना, बंदूकों ने छलनी कर दिया था... थानेदार पट ताव खा गया... फिर तो पूरा गांव घेर लिया गया... गांव में एक भी आदमी ऐसा न था जो चाचा के पक्ष में रहा हो... थानेदार ने चाचा को पकड़ा... मारा-पीटा तथा गिरफ़्तार करके जेल भिजवा दिया...

चाचा जमानत हो जाने के बाद, जब जेल से वापस घर आये फिर तो पूरी तरह बदल गये... उन्होंने गांव के सारे बच्चों को एक नारा रटा दिया... बोलो बोलो कौन सरकार ? बच्चे ज़बाब देते, 'मूंछ वाला थानेदार'...

लेकिन मैं तो मूंछवाला भी नहीं फिर वे मुझे सरकार क्यों कहते हैं... सीमांत कृषक बन जाने के बाद से ही मुझे पारिवारिक स्मृतियां जिनका रिश्ता अतीत के सामंती वैभव से जुड़ता काफी घृणित जान पड़ती... सो चाचा ही नहीं दूसरे लोग भी मुझे याद न आते... सिर्फ़ पिताजी को छोड़ कर... पिताजी भी इसलिए कि वे परिवार के सारे बच्चों को क ख ग घ से लेकर ए बी सी डी तक लिखना सिखाते तथा सभी को पढ़ने की सीखें देते... मेरे परिवार में जो भी पढ़ सका वह उन्हें अवश्य याद करता है...

वे मुझे सरकार कहें चाहे और कुछ फिर भी मैं चाचा जी को याद न करता. पर याद करना पड़ा... इसलिए कि समरूप प्रसंग आ गया... कमाल देखिए प्रसंगों का... चाचा जी असहयोग आंदोलन में भले ही जेल गये पर वे... न जेल गये और न जायेंगे...

वे दूसरी तरह का असहयोग आंदोलन चला रहे थे... जिससे जेल व थानेदार से दूर का भी रिश्ता नहीं. असहयोग आंदोलन का आलम यह था कि पहले वह बच्चा था, अब प्रौढ़ है तथा समझदार भी... समझदार इतना कि दूध का दूध, पानी का पानी वाली जांच न हो तो कुछ भी मालूम न चले...

वे एक बार जांच के घेरे में आ गये. जांच की ख़बर हवा बन कर पूरे कस्बे में फैल गयी... उनके दूसरे अनन्यों की तरह मुझे जान पड़ा कि आज़ादी के बाद वाला उनका असहयोग आंदोलन बुरी तरह कुचला जायेगा फिर तो वे निलंबित ही होंगे... या कम

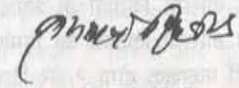

अगस्त १९४७,

एम. ए. (समाज कार्य), एल. एल. बी.

लेखन : *१९७८ से ८१ तक, फिर १९९३ से अब तक. 'हंस', 'कथाबिंब', 'वसुधा', 'कल के लिए', 'शेष', 'युद्धरत आदमी', 'अक्षर पर्व' जैसी कई पत्रिकाओं में दो दर्जन से अधिक कहानियां प्रकाशित. आकाशवाणी के ओबरा केंद्र से कहानियां प्रसारित. कहानियों के अलावा कविता, आलोचना व निबंध लेखन भी.*

संप्रति : *गांव में खेती, व 'असुविधा' त्रैमासिकी का प्रकाशन.*

से कम सस्पेंड...

हुआ यह था कि जांच वालों ने उन्हें विद्यालय में हाज़िर पाया था जब कि वे भौतिक रूप से... उसी समय वे एक कार्यशाला के अपने आयोजन में थे... किसी अध्यापक ने इस रहस्य को खोल दिया था जो प्रश्न बन गया था... 'क्या एक आदमी एक ही समय में भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहते हुए भिन्न-भिन्न कार्यों को संपादित कर सकता है ?'

इस सवाल ने जांच करने वालों को अचरज में डाल दिया... सो जांचवाले फटाका पहुंचे कार्य-शाला वाले स्थान पर. वे मज़े में तथा बेख़बर कार्यशाला के संयोजन में जुटे थे... बात थाने तक ले जायी गयी... पर हुआ कुछ नहीं... पचास हज़ार रुपयों में मामला सलट गया तथा मान लिया गया कि इस विशेष क्रिया से एक ही आदमी, एक समय में दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर कार्य संपादित कर सकता है.

जांच में क्या हुआ ? जानना मेरे लिए बहुत आवश्यक था... सो मैं उनके यहां आनन-फानन में पहुंचा वे सो रहे थे... सारा मामला रफ़ा-दफ़ा कर देर रात में लौटे थे... आंखें मलते हुए प्रसन्न भाव से मुझसे मिले... मेरे पूछने पर सारा हाल सिल-सिले वार उन्होंने बताया फिर मुझे संबोधित कर आश्वस्त करने लगे...

'सरकार ! सरकारी आदमी ही सरकार का असहयोग के ज़रिये विरोध कर सकता है... जनता तो बे-मतलब के विरोध के नाम पर मिमियाती है... मैं शुद्ध रूप से गांधी का अनुयायी

हूं तथा अपनी तरह से सरकार का विरोध करता हूं... देखियेगा एक दिन भी पढ़ाने नहीं जाऊंगा... दो लाख रुपया दिया है तब जाकर विद्यालय को वित्त-पोषित की मान्यता मिली है... जांच कराओ... देखता हूं कितनी जाचें कराते हो...'

मैंने साफ़-साफ़ उनका चेहरा देखा. वे सफलता की गरिमा अपने चहरे से चिपका चुके थे. जांच का मामला रफ़ा-दफ़ा हो ही गया था... सगर्व वे सारा प्रकरण बता गये, छिपाये तो सिर्फ़ इतना ही कि पचास हजार रुपये ख़र्चना पड़ा... उनकी बातें सुनते हुए मैं सोचने लगा... क्या इक्कीसवीं सदी में असहयोग आंदोलन का उत्तर-आधुनिक रूप ऐसा ही होगा जैसा वे निपटा रहे थे... तो क्या चाचा उस जमाने में इस तथ्य का अनुमान लगा चुके थे कि असहयोग व सत्याग्रह जो गांधी के काल में चल चुका आगे नहीं चल पायेगा... शायद हां तभी तो उन्होंने बच्चों को रटाया था... 'बोलो बोलो ! कौन सरकार, मूंछ वाला थानेदार...' अब भला मूंछ वालों के खिलाफ कैसा असहयोग ?

जब भी मैं कस्बे में होता, वे कहीं न कहीं मिल जाते, कुछ विशेष बात होती तब वे मेरे मकान पर भी चले आते... ऐसे ही किसी दिन अल-सुबह वे आये, मॉर्निंग टहलाव पर निकले थे... दूसरे किस्म के हाल-अहवाल के बाद वे फौरन अपने उद्देश्य पर ठहर गये... उन्होंने एक निमंत्रण पत्र दिया... निमंत्रण उनके अभिनंदन कार्यक्रम में शामिल होने के लिए था... वे एक विशेष नाम-धारी पुरस्कार पा चुके थे... कस्बे के कुछ जोशीले उनका अभिनंदन कर रहे थे... भला ऐसी परिस्थिति में मैं कैसे इंकार कर पाता, इंकार करना भी नहीं चाहिए.

कुल मिलाकर यह कि उनके अभिनंदन कार्यक्रम में मैं सम्मिलित हुआ. मेरे भाषण पर तमाम तालियां बजीं... ऐसा मैं अपनी प्रशंसा में नहीं बता रहा. मुझे भी तालियों पर अचरज था... क्योंकि ऐसा पहले कभी नहीं हुआ... पहले तो यही होता था कि श्रोता मुझे गालियां देने लगते कुछ समझदार हुए तो मुंह-कान बंद कर बैठे होते....उस अवसर को याद कर अब मैं सोच रहा हूं कि वैसा ही भाषण अपनी किताब के लोकार्पण के अवसर पर दूंगा...

मेरी किताब के लोकार्पण का अवसर आयेगा ! यह संभव नहीं जान पड़ता. ऐसा इसलिए नहीं कि मुझे हताशाओं ने गुलाम बना लिया है... ऐसा कतई नहीं. असल मामला है, कविता, कहानी, निबंध वग़ैरह लिखने की मेरी क्षमता नहीं... सो किस बात की किताब ?

किसी तरह जन-जातियों के गीतों का तीन चार सौ की संख्या में संकलन किया था... दो साल लगे थे... फिर दो सौ के आस-पास उनमें से छांटा... खास तौर से उन गीतों को जो जन-जातियों के दुख-दर्द, विस्थापन वग़ैरह को प्रदर्शित करते थे... बहुत खुश हुआ था उस दिन... खुश इतना था कि अपनी श्रीमती जी को भी उसमें शामिल कर लिया. हालांकि वे मेरी खुशियां के स्वप्न महल से भाग निकलीं. कुटिल हंसियों के बीच उनके होंठ मोटे हो गये थे तथा आंखों में निरीहता के लोर आ गये थे... 'पहले अपनी किताब तो लिखिए, दूसरों की क्या लिखेंगे ?' श्रीमती जी की उपेक्षा की उपेक्षा कर मैं अपनी किताब के प्रकाशन का सपना देखता रहा... इसी बीच वे आये...

वे बहुत-बहुत खुश हुए मेरी किताब देखकर... यानि किताब की शक्ल की टाईपशुदा पांडुलिपि... फिर उन्होंने अपनी खुशी मेरी तरफ उछाली... जो मेरी तरफ आयी तथा मुझसे चिपक ली...

'सरकार ! इसे मैं छापूंगा अपने प्रकाशन से... यह तो बहुत ही मौलिक कार्य है... 'मुझे लगा कि भूखे के मुंह में रोटी गिर गयी...

कितना ख़र्च आयेगा...? मेरे पूछते ही वे बिदक पड़े... 'सरकार ! कैसी छोटी बात करते हैं आप ! ख़र्चा मैं लगाऊंगा, बेचकर वसूल लूंगा.'

गूंगे को जुबान चाहिए न, जुबान मुझे मिल रही थी... मिल क्या रही थी, मिल चुकी थी... वे इतना झूठ तो न बोलेंगे... फिर किसी की नैतिकता को संदिग्ध मान लेना यह नैतिकता तो नहीं ? उन्होंने उसी दिन पांडुलिपि, मुझसे ले ली... मेरे पास उनका बड़प्पन बचा था जो बहुत बड़ा हो रहा था तथा किताब छपने की रंगीन खुशियां थीं... खुशियां भी ऐसी - जैसे जिनकी किताबें छप जाती हों, वे युग-पुरुष होते हों. होते हों न हों मैं मन की खीर तो पकाने ही लगा था... अब बनी, तब बनी फिर खाऊंगा, मन की खीर, मीठी-मीठी... काजू-किशमिश वाली..

खीर न पकी, न खाने का मौका मिला... जिस दिन अमेरिका ने इराक पर हमला किया उसी दिन मुझ पर भी हमला हुआ. शब्दों, अक्षरों, नामों, लयों, तानों के बम मुझे खंड-खंड फोड़ने लगे... हाथ कहीं गिरा, कहीं कान, कहीं पैर, कहीं सिर... मेरे हाथ में एक चमचमाती सी किताब थी... किताब में वे थे... उनका नाम था, उनकी दूसरी किताबों के विवरण थे, पुरस्कारों की सूची थी, पद व पदवी थी.. गंभीर अध्येयता जैसी एक तस्वीर थी...

किताब देखता रहा, देखता रहा, इसके अलावा कर भी क्या सकता था... किताब तो छप गयी थी... वे आदिवासी गीत मेरे तो न थे... संकलित कर लेने मात्र से वे गीत मेरे तो न हो जाते. तो क्या वे... ऐसे भी... कहीं दूसरी किताबें भी इसी तरह...

जमीनों के नामांतरण तो होते हैं, कानूनी ढंग से... किताबों के नामांतरण के बारे में नहीं जानता था... उन्होंने मेरा नाम हटाकर अपना नाम चढ़ा लिया था... आखिर मैं भी तो उनके लिए 'सरकार' ही तो था... वे सरकार का विरोध करते ही थे. यह तो सविनय विरोध था... ऐसा भी नहीं था कि वे गीत मेरे रचे हुए थे... रचे हुए भी होते तो क्या नामांतरण न होता...

आस्था व विश्वास से संबंधित एक आदिवासी गीत जो संकलन में संकलित था... मुझे याद आया... 'विधि के विधान करम देवता.... पड़ल पहाड़े डेरा हो करम देवता.' पहाड़ का डेरा बचा रहे यही काफी है... मैंने खुद को आश्वस्त किया तथा नामांतरित किताब को बेरहमी से रैक की तरफ उछाल दिया... जो रैक पर न जाकर धम्म से जमीन पर गिरी... तो क्या होगा इराक का ? विनाश, विकास या राष्ट्रीयता का नामांतरण...

सं. असुविधा, अक्षर घर,
हर्ष नगर, पूरब मोहाल,
सोनभद्र-२३१ २१६ (उ. प्र.)

लघुकथा

कवि का गीत

हबीब कैफ़ी

सेना अधिकारी बहुत खुश था. उसे यकीन था कि उसके इस कारनामे की बदौलत उसकी पदोन्नति होकर रहेगी. यह स्वाभाविक भी था. उसने आखिर एक राजद्रोही को अपनी व्यूह रचना से गिरफ़्तार कर लेने में कामयाबी हासिल की थी.

राजा का दरबार लगा तो सेना अधिकारी क़ैदी सहित वहां उपस्थित हुआ. सिर झुका कर हाथ जोड़ने के बाद उसने राजा की ओर देखा. राजा की आंखों में अपने लिए प्रशंसा देख कर दिल ही दिल में वह बड़ा प्रसन्न हुआ.

"सुनो सामंतो और दरबारियो !" राजा ने सिंहासन से कहा, "हमें आज इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि इस वीर और साहसी सेना अधिकारी ने हमारे एक कट्टर शत्रु को बंदी बनाने में सफलता प्राप्त की है. इसके लिए हम अपने इस राजभक्त सेना अधिकारी के लिए पुरस्कार की घोषणा करते हैं. इसके साथ ही बंदी बनाये गये इस राजद्रोही के लिए दंड की घोषणा भी करते हैं.

ठहर कर चतुर राजा ने दरबार में उपस्थित लोगों को बड़े ही ध्यान से देखा. वास्तव में वह यह जान लेना चाहता था कि उसके निर्णय पर कहीं कोई विपरीत प्रतिक्रिया की संभावना तो नहीं है. लेकिन वहां सन्नाटा छाया हुआ था और लोग बड़ी व्यग्रता से उसके अगले वचन की प्रतीक्षा कर रहे थे. अवसर को अपने अनुकूल देख कर राजा ने आगे कहा -"राजद्रोह के आरोप में बंदी के लिए हम प्राणदंड की घोषणा करते हैं. कल सूर्योदय से पहले इसका सिर धड़ से अलग कर दिया जाये और यह काम हम अपने नव नियुक्त उप सेनापति को ही सौंपते हैं."

नागरिकों को जब राजा के निर्णय का पता चला तो वे चकित रह गये. हर कोई यह सोच रहा था कि राजा ने कवि के प्रति घोर अन्याय किया है. कवि का क़सूर ही क्या था - उसने राजा का स्तुतिगान करने की बजाये जनता को अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध सचेत किया था. राज्य के लगभग सभी स्त्री-पुरुष राजा के निर्णय के विरुद्ध थे. लेकिन उनका विरोध किसी भी रूप में मुखर नहीं हो पा रहा था. लोगों को पता था कि राजा के विरुद्ध बोलने का सीधा-सा अर्थ होगा, कठोर दंड का भागी बनना.

उप-सेनापति ने वधस्थल की व्यवस्था को एक नज़र देखा. जलती मशालों की रोशनी में पहरेदार पूरी तरह से चौकन्ने थे. जल्लाद दाहिने हाथ में चमकती हुई नंगी तलवार लिये मुस्तैद खड़ा था. कवि के हाथ पीठ की तरफ़ मज़बूत रस्सी से बंधे थे. उस के शरीर पर लांग लगी मात्र एक धोती थी. उसके तनावरहित चेहरे और होंठों पर हल्की-सी मुस्कान थी. उसकी आंखो मे स्मितपूर्ण व्यंग्य के साथ ही भेद डालने वाली दृढ़ता और वर्तमान के प्रति गहरा उपहास था.

उप-सेनापति कवि की इस मुद्रा को सहन नहीं कर पा रहा था. बौखला कर उसने जल्लाद की ओर देखा. वह उसकी तरफ़ ही देख रहा था. इशारा पाकर उसने कवि की गुद्दी थपथपाई और तलवार के एक ही वार से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया.

सूर्योदय होते-होते घोड़े की पीठ पर सवार उप-सेनापति अपने निवास स्थान की ओर लौट रहा था कि उसके कानों मे कवि के गीत सस्वर गूंजने लगे. इसे उसने अपने मन का वहम जाना और वह आगे ही आगे बढ़ता गया. एक मोड़ पर तो उसने कवि की स्तुति में गीत के बोल सुने तो ठहर कर उसने हर तरफ़ नज़र दौड़ाई. सहमे हुए ख़ामोश नागरिक एक ओर खड़े थे. यह देख कर वह मन ही मन मुस्करा कर आगे बढ़ गया. रास्तेभर उप-सेनापति को कहीं कवि के गीत तो कहीं उसके स्तुतिगान ही सुनाई पड़ते रहे, जिन्हें वह बराबर ही अपने मन का वहम मान कर झुठलाता रहा.

आखिर वह अपने शानदार सरकारी निवास स्थान पर पहुंचा तो चकित रह गया. घोड़े की पीठ से उतरते-उतरते उसने चिरपरिचित स्वर में कवि के प्रति स्तुतिगान सुना. वह जब भीतर गया तो उसके कानों में राजा के अन्याय और अत्याचार के विरोध में जनता का आह्वान करने वाले बहुत ही प्रसिद्ध गीत की पंक्तियां पड़ीं. वह फटी-फटी आंखों से देख रहा था- नाज़ों पली उसकी इकलौती बेटी दर्दभरी आवाज़ में कवि का गीत गा रही है !

१५९ ज़ाकिर हुसैन कॉलोनी,
पांचवी चौपासनी रोड, जोधपुर -३४२००१

आमने / सामने

कहली-कहली, नाहीं कहली

✍ रामनाथ शिवेंद्र

(बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठें खोलना चाहता है. लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने/सामने.' अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नीसिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, सुमन सरीन, फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा और पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर और डॉ. उर्मिला शिरीष से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है रामनाथ शिवेंद्र की आत्मरचना.)

आदमी एक ही बार मरता है, पर मेरे लिए यह सच नहीं है. मैं जब-जब कहानियां पूरी करता हूं, मर जाता हूं. कुछ कहानियां हैं जो पूरी नहीं हो पायीं सो बचा हुआ हूं. इस मरने का सिलसिला अस्सी से प्रारंभ है. जहां तक मुझे याद है जब 'सहपुरवा' की नायिका सुमिरिनी, अपनी हरिजन बस्ती में पुलिस द्वारा घेर ली जाती है तथा सामंत रामभरोसे से पूछती है, 'काहो के पहिले तु के ई'. पुलिस पुलिसिया कामों के अलावा उस काम को भी निपटाना चाहती थी जिसके लिए 'रामभरोसे' ने सहपुरवा के 'कथा' का सृजन किया था. कुल मिलाकर उपन्यास सुमिरिनी के सवाल के साथ ख़त्म तो हो गया पर रामनाथ शिवेंद्र नाम का आदमी उसी दिन, उसी वक़्त मर गया. मरते वक़्त उसने पूछा था जीवित रामनाथ शिवेंद्र से...

'साले! सुमिरिनी जब पुलिस द्वारा घेर ली गयी थी, उस समय तू का कर रहा था?'

भला मैं इस सवाल का ज़वाब क्या देता... सो मरना ठीक लगा, और मर गया...

अस्सी के बाद लगातार १९९१ तक मुझे मालूम ही न हुआ कि यह दुनिया, यह देश, यह समाज मेरा है तथा मेरी कुछ जिम्मेदारियां हैं. इस दौरान रोज़ कोई न कोई घटना घेर लेती, और मैं उसमें उलझ जाता... मेरे साथ सच्ची कहानी चलने लगती जो मुझे कहानी जैसी जान पड़ती. मैं कोशिश करता कि उसमें किसी सिद्ध कथाकार की तरह कहानी निकाल लूं पर ऐसा कर पाना मेरे लिए संभव न हो पाता. २२ दिसंबर सन १९८२ को उधृत करूं तो, इसी दिन शाम छह बजे, सर सुंदरलाल अस्पताल, बी.एन.यू. के बेड पर, पसरे हुए, पिताजी ने अकट्य घोषणा की थी कि देखो! मैं मर गया उनकी गर्दन बायीं ओर लुढ़क गयी थी. दायीं ओर मैं खड़ा था, अवाक. मेरे अगल-बगल 'पिताजी' की आहत संवेदनाएं थीं, जो तभी चोटिल हो गयी थीं जब उन्हें बनारस ले चलने की गांव पर तैयारी हो रही थी. मेरे छोटे तथा बड़े दोनों भाई मान कर चल रहे थे कि पिताजी बीमार नहीं, हैं भी तो ऐसा नहीं कि उन्हें बनारस पहुंचाया जाये...

मेरे दोनों भाई सही थे, मैं ही ग़लत हूं जो मान ले रहा हूं कि पिताजी मर गये... ये ऐसे पिता नहीं जो मर जायें, देखते-देखते. मैंने पिताजी की बड़ी-बड़ी आंखों को देखा. जो एकटक थीं... एकदम खुली-खुली... मुझे लगा कि अब इनमें कहानियां शेष नहीं. इस प्रकार एक सच्ची कहानी की मृत्यु मैं अपने सामने देख रहा था तथा तज़वीज़ रहा था कि पिताजी के बकाया कामों को मैं पूरा करूंगा सो इस सच्ची कहानी के साथ मरने का सवाल नहीं...

सच कहूं... सच्ची कहानियों से, सच्ची घटनाओं से मैं कोई कहानी चुरा नहीं पाया जिसके केंद्रीय पात्रों में मैं हुआ करता था. इसके उलट, उन पात्रों तथा उन घटनाओं ने मुझसे कई कहानियां लिखवा लीं जिन्हें मैं केवल देख व सुन रहा था. वे पात्र तथा घटनाएं आज भी मुझसे विमर्श करती हैं... क्या मैंने तुम्हें कहानी में समेट कर उनके साथ न्याय किया...?

'हम तुम्हें खोना नहीं चाहते कामरेड' का सतीश आज तक मुझसे पूछ रहा है... क्या आपने मेरे साथ न्याय किया? संगठन का भगोड़ा बना कर आपने मेरी हत्या कर दी... कुछ इसी तरह दूसरी, तीसरी, चौथी सारी कहानियां अंत होते-होते तक मुझे सवालों से घेर लेती हैं... भला बताइए, मैं महज़ एक कथाकार, वह भी कथाकार बनने की प्रक्रिया में, जिसे संपादक, प्रकाशक घास तक नहीं डालते... सवालों के ज़वाब कहां से चुराऊं...? किस प्रसिद्ध कहानीकार के घर चोरी करूं... राजेंद्र जी, कमलेश्वर, असग़र वज़ाहत, मधुकर सिंह... किनको चुनूं चोरी

किये जाने योग्य..

सतीश के चरित्र को मैं दो साल से पछिया रहा था, लगातार उसे देखता, कुरेदता, पर वह मुझे देखकर दूर भाग खड़ा होता तथा साफ़-साफ़ कहता... तुम जैसे कथा-युद्ध लड़ने वाले दो कौड़ी के होते हैं. किसी तरह सतीश की कथा पूरी हुई तथा 'हम तुम्हें खोना नहीं चाहते कामरेड' कहानी से मुझे फुर्सत मिली. वस्तुतः क्या वह फुर्सत थी ? किससे फुर्सत, किससे मुक्त हो गया मैं... सतीश को ज़िंदगी मिल गयी, वर्ना वह संगठन में 'हत्या' किये जाने योग्य था... लेकिन मैं...

जैसा बता चुका हूं कि कहानी पूरी हो जाने के बाद मैं खुद अपनी मृत्यु का प्रायोजक बन जाया करता था... वही हुआ. मैं मरा, तड़प-तड़प कर मरा... मज़ेदार बात यह कि अपने मरने के पल-पल का साक्षात्कार करता रहा... उफ़ कितना भयानक ! कितना त्रासद. सतीश की ज़गह पर मुझे चुन लिया गया मृत्यु दर्शन के लिए... तो क्या मृत्यु से डरने वाला आदमी हूं मैं ? हां तभी तो बार-बार मरता हूं, फिर जीवित हो जाता हूं किसी दूसरी कहानी के लिए...

अपनी कथा का नायक मैं कभी नहीं बन पाया. जब-जब नायक बनने की प्रामाणिक स्थितियां उत्पन्न हुईं बिल्कुल क्लासिकल चरित्र वाली तब-तब मैं खुद अपने से इतना अलग व दूर हो जाता था कि स्थितियां खुद-बखुद त्रासद बन जाती थीं. फिर तो मेरा 'नायक' मुझे तन्हा छोड़ कहीं दूसरी जगह चला जाता था... कथा-नायकी तो बतौर वेलफेयर ऑफिसर मुझे आठवें दशक के पूर्व में ही मिल गयी थी... साल-डेढ़ साल बाद मेरा वेलफेयर अफसर मुझसे दोगलई पर उतर आया... लगा निर्देश देने... यह करो वह करो, बीमा कराओ, कमीशन लो, मैनेजमेंट के लोगों से मिला करो. जो श्रमिक है, वह तो कष्ट में रहेगा ही... तुम उनके लिए क्या-क्या करोगे... क्या-क्या कर सकते हो, कानूनों की कितनी तहें हटाओगे, इस परतीय समाज से...

ऐसा हुआ नहीं कि कोई निर्देश दे... खास तौर से मेरा कथा-नायक, मेरा पैदा किया हुआ. आठवें दशक के बीच में, ठीक आपात्काल के साल भर पहले मैं कचहरी में बतौर वकील दाखिल हो गया... मजा देखिए मेरा कथा-नायक कचहरी में घुसते ही इतना मजबूत हो गया कि सह-नायकों पर हावी होने लगा. कचहरी की ज़मीन उर्वरक थी... हर तरफ खाद, गोबर से पटी हुई. कुछ भी बो दो फसल लह-लहा उठे, खलिहान चाहे जितना बड़ा बना लो कोई रोकने-टोकने वाला नहीं... लेकिन यह क्या...?

'हुज़ूर मैंने चोरी नहीं की, मुझे चोरी में फंसा दिया गया. माल बरामद नहीं, बरामदगी फर्जी है, सारे गवाह दलाल हैं, मैं गरीब आदमी हूं, मेरे पास ज़मीन नहीं, रोज़गार नहीं, कमाता हूं तो खाता हूं, कभी-कभी नहीं भी खाता'.

लीगल जुरिसप्रुडेन्स के पन्ने फड़फड़ाये... किसे कहते हैं चोरी, शायद दंड विधान व दंड प्रक्रिया से कुछ अलग हो इसमें... लेकिन जुरिसप्रडेन्स तो खामोश है... फिर चोरी क्या है ? दो गवाह, थाने पर एफ. आई. आर, माल बारमदगी... तथा एक परिभाषा... 'किसी की वस्तु या संपत्ति, उसकी मर्जी व जानकारी के खिलाफ हासिल कर लेना'.

कथित चोर के चेहरे पर उगा हुआ सवाल मैं पढ़ रहा हूं... वस्तु, संपन्ती, भूमि पर वैयक्तिक हकदारी किसने स्थापित करा दीया भाई ? वह सवाल अचानक मेरे चेहरे पर चस्पा होकर धौंस जमाता है... बोलो-बोलो किसने हकदारी निश्चित कर दी, सूरज, चांद, हवा-पानी, मौसम, जंगल. किसने...

काली कोट में घुसा मेरा कथा-नायक... अदालत के सामने... जिले में पहुंचा चोरी का अपराधी-कानून की रटी-रटायी धाराएं, कुछ नजीरें... घटनाओं व तथ्यों को विखंडित करता हुआ मेरा कथा-नायक... मकसद पांच सौ रुपये... यानि कि बहस की कीमत पांच सौ रुपये... जमानत हो न हो...

१९८३ की कोई शाम... तारीख़ याद नहीं... पिताजी की मृत्यु के लगभग पांच-छह माह बाद... छिः छिः यह नहीं होगा. काला कोट पहनकर, अदालत के सामने दलीलें देने वाला मेरे जीवन का कथा नायक किसी प्रेत की तरह दिखने लगा.. जिसके बारे में मां अक्सर बताया करती थीं. बचपन के दिनों में, मैं डर जाया करता था तथा रोना छोड़ सो जाता था... हूबहू वही प्रेत, बड़े-बड़े दातों, नाखूनों वाला, ताजा खून पीने वाला, ठठा कर हंसने वाला.

यह कथा-नायक मेरी किसी कहानी में नहीं घुस सका, घुस जाता तो ठीक था... कहानी पूरी होते ही मैं मर तो जाता आराम से... फिर पैदा होता किसी दूसरी कहानी की पैदाइश के साथ. मैं चाहता हूं कि यह प्रेत मरे, देखिए... क्या होता है ?

सच मानिए तो सात-आठ साल से ही कहानियां लिख रहा हूं, लगभग दो दर्जन स्तरीय पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हैं, कह सकता हूं गर्व से.... कि हंस, वसुधा वग़ैरह का कथाकार हूं, हंस में तो चिट्ठियां भी छपती रहती हैं ज़नाब ! काशीनाथ जी को व्यक्तिगत रूप से जानता हूं, ऐसा वैसा काम उनसे निकलवा सकता हूं... राजेंद्र जी के 'पाइप' से निकलने वाले धुंये पर मज़ेदार कहानी भी लिख सकता हूं लेकिन साथी ! कहानी पूरी हो जायेगी पर मैं मरूंगा नहीं तथा मृत्यु के नृत्य का आनंद नहीं ले पाऊंगा... एक अलग किस्म के झमेले में उलझ जाऊंगा... देखी का कबीर तथा लेखी का राजेंद्र, मैं दोनों नहीं बनना चाहता... सभी जानते व मानते हैं कि रास्ता दो ही हैं, देखी का या लेखी का. फिर मैं किस तीसरे रास्ते को तलाश रहा हूं... ?

देखो, गुनो, याद करो, स्मृतियों के कोलाज बनाओ, वज़नदार शब्दों को जोरदार ध्वनि दो... आरोह, अवरोह को साथ

बोलो, फिर बोलते ही रहो. सुनने वाला सुनेगा, सुनने के लिए आया है, सुन कर चला जायेगा. यह हुआ देखी का रास्ता... जो बहुत पहले ही मुझसे छूट गया खास तौर से उस तारीख़ के बाद ही जिस दिन घुरफेंकन ने मुझसे कहा था... 'बबुआ ! कहली, कहली, नाहीं कहली बात कउनो महीन चाउर हौ', मेरा बोलना बंद करा दिया घुरफेंकन ने... मेरे गांव के थे, खूब बोलते थे, सभा मीटिंग सभी जगह बोलते थे... घुरफेंकन बोलते-बोलते चले गये, उनके जाने के बाद से ही मैं जो चुप हुआ आज तक चुप ही हूं, बहुत कुछ देखना होता है पर देखा हुआ बोलना कतई नहीं...

घुरफेंकन इतने 'बोलाक' थे कि थाने पर बोलने लगे... गांव भर चुप था... जानते सब थे कि 'बलात्कार' किसने किया है... पर कोई क्यों बोले ? थाने की मार-पीट, या दूसरे बवाल पीठ पर क्यों लादे ?

फिर तो घुरफेंकन पर बीसों मुकदमे लद गये, गैंगस्टर से लेकर उग्रवादियों को संरक्षण देने के अपराध तक... सारी उम्र जेल में रहे, वहीं मर गये... एक लड़का था, जाने कहां चला गया... बीबी थी, उसने दूसरा घर कर लिया. उनका घर-बार कथित बलात्कारी द्वारा कब्जा कर लिया गया, उसका बाल बांका न हुआ. बलात्कृत महिला ने बलात्कार होने से खुले आम तथा अदालत में भी इनकार कर दिया. मेरी मुलाकात उसी घुरफेंकन से रोज़-रोज़ होती रहती है. वे मुझसे, मेरी पत्नी का, बिटिया का, पतोहू का हाल-चाल पूछते हैं 'क्यों सब ठीक है न ?'

जब मैं सकारात्मक उत्तर देता हूं तो वे हंसने लगते हैं, हंसते हुए ही उलाहते हैं 'मरे हुए आदमी से झूठ क्यों बोलता है रे... सच बोल कर जब तू खूद नहीं बच सकता फिर पत्नी और बच्चों को बचा लेना यह तो बहुत बड़ा झूठ है.'

अब घुरफेंकन को क्या मालूम कि मैं बोलता नहीं, लिखता हूं, वह भी कहानी जिसमें संभावित नहीं, असंभावित महत्वपूर्ण व ज़रूरी होता है. तो क्या घुरफेंकन का चरित्र किसी ज़रूरी कथा के लायक नहीं ? घुरफेंकन पर मैं आज तक कोई कहानी न लिख सका. एक बार कोशिश कीया थी कि बीच में ही घुरफेंकन ने क़लम थाम ली...

'बस करो बहुत लिख लिया मेरे ऊपर, मैं होरी नहीं, जैसा चाहो गढ़ लो, मुझे कोई गाय-काय नहीं चाहिए... मैं तो जो देखूंगा, जैसा देखूंगा बोल दूंगा, अब जेल हो जाये या फांसी... मैं चुप रह कर घुट नहीं सकता....'

फिर तो घुरफेंकन मेरी कलम से ऐसा झटके कि अब वे कहां है, कोई जानकारी नहीं.... एक कहानी छपी थी, इसी लोकप्रिय पत्रिका (कथाबिंब) में, दो भिन्न-भिन्न धाराओं के मित्रों की, 'आपद-धर्म' नाम से. दोनों मित्रों में एक उपन्यासकार होता है तथा दूसरा क्रांति का अनुयायी... उपन्यासकार, दोस्त की क्रांति कथा को उपन्यास में ढाल देता है तथा उसके उपन्यास को सर्वश्रेष्ठ उपन्यास के रूप में चुन लिया जाता है जिस पर एक लाख रूपयों का ईनाम भी होता है... ज़ाहिर है नामी-गिरामी उपन्यासकार ईनाम-उनाम नहीं लेते... सो उपन्यासकार ने ईनाम लेने से इन्कार कर दिया... जब कि ईनाम ले लेता तो उसकी पत्नी का इलाज़ हो जाता जो अस्पताल में पड़ी थी. इलाज पर कम से कम लाख रूपये खर्च होना था... उपन्यासकार संबधों की रागात्मकता जैसी भावुकता से दूर... यथार्थ के संधानों से लड़ने वाला जीव था, असंभाव्यता के रास्ते का पथिक. उसका क्रांतिकारी दोस्त, उससे कम न था. क्रांतिकारी की भी चाहना थी कि उसकी सच्ची कहानी माओ या लेनिन की कथा को पटखनी दे दे...

क्रांतिकारी को जिंदा या मुर्दा पकड़ने पर भी एक लाख रूपयों का ईनाम था, संयोग देखिए उसकी औपन्यासिक कथा पर भी ईनाम तथा वास्तविक कथा पर भी. इसी संयोग को क्रांतिकारी चुनाता है तथा ऐसी व्यूहरचना करता है कि उपन्यासकार अपनी ज़िदें कूड़ेदान में डाले तथा ईनाम का रूपया लेकर पत्नी का इलाज कराये नहीं तो क्रांतिकारी समर्पण कर देगा. फिर तो पुलिस उपन्यासकार को ईनाम देगी ही... जिससे वह पत्नी का इलाज़ करा सके...

उपन्यासकार की जिद टूट जाती है तथा वह उपन्यास पर मिलने वाले ईनाम को लेने के लिए राजी हो जाता है... क्रांतिकारी अपने रास्ते पर बिना समर्पण किये चला जाता है...

कहानी पूरी हो गयी पर घुरफेंकन कभी नहीं आये. वे जब तक आते रहे, कहानी पूरी होने के बाद मैं मरा नहीं करता था... लेकिन अब तो मर जाता हूं... क्योंकि वास्तविक जीवन में ईनामी उपन्यासकार या घटिया से घटिया दर्जे का क्रांतिकारी बनने के अवसर मुझे उपलब्ध नहीं. सो हर कहानी पूरी होने के बाद मृत्यु-गंध की अलौकिक खुशबू मुझे खींच लेती है तथा अध्यात्म के किसी साधक की तरह मैं श्वासों के कौतुक से खुद को मरा हुआ घोषित कर देता हूं. कोशिश करता हूं कि विचारों के आवागमन को बंद कर दूं, बेडरूम की तरफ जाऊं तथा समय को अश्लील ढंग से पकड़ लूं, सुबह होते ही मीडिया को ख़बर दे दूं, ज़नाब ! घुरफेंकन हुआ करते थे मेरे गांव में, होरी से दो हाथ आगे, जो सच के सिवा कुछ न बोलते थे.

मालूम नहीं, इस बाजारू प्रतियोगिता के दौर में, मेरे इस 'लेख' को आप किस तरह स्वीकारें, पर पार्टनर ! हर ज़गह आपको घुरफेंकन मिलेंगे. देखिए आपके अगल-बगल हैं कि नहीं, यदि मिल जायें तो... थोड़ी सी कोशिश कीजिएगा कि वे मुख्य धारा में आ जायें तथा सच बोलना थोड़ा कम कर दें.

अक्षर घर, पूरव मोहाल, हर्ष नगर, राबर्टसगंज, सोनभद्र-२३१२१६ (उ. प्र.)

'मेरे लिए लेखन जीवन है' - लवलीन

(प्रसिद्ध लेखिका लवलीन से फ्रीलांसर मधु की बेबाक बातचीत)

● लवलीन जी, आपके लिए लेखन क्या है ?

जीवन. मेरे लिए लेखन जीवन इसलिए है कि बचपन से जिस सपने के साथ बड़ी हुई हूं, लेखक बनने का सपना था. उस दौर में भी जब लोग पढ़ने में टॉप करते थे, तब भी लेखन को कोई गंभीरता से नहीं लेता था, स्वीकृत नहीं करता था. मेरे पिताजी चाहते थे कि मैं आई.ए.एस. की परीक्षा में बैठूं या डॉक्टर बनूं. अपने परिवार में पढ़ने में मैं ही ब्राइट निकली, दोनों भाइयों की अपेक्षा. मेरे सामंती और धनिक पिता ने मुझे अफसर बनाना चाहा ताकि सरकार में उनकी चले. लेकिन मेरी मां अमृतसर में न केवल हिंदी की प्राध्यापिका थीं, अपितु साहित्य रसिक भी थीं. उनकी लंबी-चौड़ी लायब्रेरी थी, घर में. सब साहित्यिक पत्रिकाएं आती थीं. वे मोहन राकेश की मित्र थीं. मैंने इस तरह अपने-आपको चेतन होते ही साहित्य की किताबों के बीच पाया. पिता के क्रूर अनुशासन से दबी रहनेवाली लवलीन को कल्पनाओं की उड़ानें रास आने लगीं, जिन्हें इन किताबों ने उत्साहित किया और मैं लेखक बनने का सपना देखने लगी. आज भी मैं घनघोर पाठिका हूं. तब साहित्य ने मुझे संस्कार दिया. उस कच्ची उम्र में अपने अच्छे-बुरे को जांच सकने का विवेक दिया. लिखने की शुरूआत तो कविताओं के रूप में बचपन से ही हो गयी, लेकिन खूब पढ़ने के कारण पहले प्रयास में ही मुकाम हासिल कर लेने की वंचना ने मेरी कलम को बरसों तक खुलने नहीं दिया. अनायास ही छात्र-जीवन में पत्रकारिता से जुड़ी और लेखनी चल निकली.

● आपके लिए लेखन की प्राथमिकताएं बदलती रहती हैं. ?

लेखक की प्राथमिकता निरंतर लेखन करने की होती है. आज के दौर में लेखक होना स्टिग्मा है. कवि से पूछा जाता है कि ठीक है कि आप कविता लिखते हैं, लेकिन आप करते क्या हैं ? लेखन की प्राथमिकता यह भी है कि मैं जिस विचारधारा और फेमिनिस्ट दर्शन में विश्वास रखती हूं, मेरी कहानियां उसमें से होकर निकलें. एक प्राथमिकता यह भी है कि मुझे मनुष्य-मनोविज्ञान के छुपे और जटिल, विशेषकर समाज द्वारा बाधित प्रवृत्तियों, अनुभूतियों को उद्‌गार देना या अभिव्यक्त करना अच्छा लगता है. आज के युग में जब कुछ भी मौलिक नहीं बचा है, मानव-मन का मर्म, स्त्री के आतम का पर्तों भरा, गुंफित रहस्यमय संसार मेरे लिए *'एलिस इन वंडरलैंड'* है.

● क्या आप पुरुष-लेखन और महिला लेखन के बीच विभाजन रेखा खींचती हैं, जैसा कि आमतौर पर फतवा दिया जाता है ?

बिल्कुल खींचती हूं. जैसे बिल्ली और शेर एक ही रेस के होते हुए भी अलग-अलग हैं, वैसे ही मानव होते हुए भी स्त्री-पुरुष की मनोरचना अलग-अलग है. उनके सामाजीकरण की प्रक्रिया, व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया हमारे समाज में नितांत भिन्न है. ज़ाहिर है, लेखन भी भिन्न होगा. स्त्री की भाषा और शैली भी भिन्न होती है. वह न केवल क्या हो रहा है लिखती है, बल्कि क्या होना चहिए, यह भी लिखती है. उसका आवेग, उसकी लाल बिंदी का ओज, उसकी चूड़ियों की खनक, उसके बालों की उड़ान, उसके लिबास और उसके रंग, उसकी खुशबू उसके रचे साहित्य में इतने अनूठे ढंग से गुंफित होती है कि पाठक बरबस शब्दों को पकड़ मोहाविष्ट हो कहानी के साथ बहुत सरलता से यात्रा पर निकल पड़ता है. यही स्त्री-लेखन की लोकप्रियता का राज़ है. दूसरा फ़र्क यह है कि 'सेकंड सेक्स' होने के कारण सदियों की पीड़ा और संघर्ष जो कि स्त्री-जीवन का अनिवार्य हिस्सा है, वह निजी होते हुए भी सामाजिक होता है जिसे 'पर्सनल इज़ पॉलिटिकल' कहा गया है. हर लेखनी संघर्ष कर रही है. पूरे विश्व में छिड़ी यह लड़ाई, जिनका कोई कार्डर नहीं है, मैनिफिस्टो नहीं है, संघर्ष के आंदोलन का नेतृत्व करनेवाला कोई नहीं है फिर भी हर स्त्री के जीवन में यह लड़ाई छिड़ती है और यह चीज़ अनायास ही स्त्रियों को संगठित कर जाती है. पुरुष को पुरुष-प्रधान समाज से शक्ति, सत्ता, स्वतंत्रता और अधिकार मात्र पुरुष होने की वज़ह से जन्म के साथ सहज सुलभ हो जाते हैं. स्त्री को इन्हें संघर्ष कर, सिद्ध कर प्राप्त करना पड़ता है.

● पुरुष-स्त्री की दोस्ती सहज रूप में ली जाती है परंतु स्त्री-पुरुष की दोस्ती में असहजता, शक क्यों आड़े आते हैं ?

इसकी वज़ह यह है कि समाज में इस प्रवृत्ति को स्वीकृति प्राप्त नहीं है. स्त्री परिवार में, कार्यक्षेत्र में कितने रिश्ते निभाती है. सास-ससुर, देवर-जेठ, बहू-बेटी, ननद, बुआ आदि. क्योंकि उसका दिल दरिया है, वह हरेक के साथ व्यक्तित्व की पूर्णता के साथ जुड़ती है. पुरुष इस मामले में विचित्र तौर पर हीन-कुंठित और संकुचित होता है. इसलिए स्त्री अनेक मैत्रियां निभा सकती है. अब देखिए, आदिकाल से पुरुषों के तो हरम रहे हैं, स्त्रियों के लिए जिगैलो (पुरुष वेश्या) अब जाकर महानगरों में मिलने लगे

जन्म : १९५९, अमृतसर

शिक्षा : एम. ए. (राजस्थान विश्वविद्यालय)

लेखन : शिक्षा के दौरान ही स्वतंत्र पत्रकारिता. नवभारत टाइम्स, जयपुर के साथ स्वतंत्र पत्रकारिता (१९८५-८८); राज्य संदर्भ केंद्र (प्रौढ़ शिक्षा) में कार्यकारी संपादक (१९८८-८९); सहरिया जनजाति (कोटा-शाहबाद) के बीच विकास और जागरूकता के लिए कार्य कर रही स्वयंसेवी संस्था 'संकल्प' के साथ मानव संसाधन केंद्र के लिए सहरिया जनजाति पर शोध में भागेदारी व आलेख (१९९०-१९९२). प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं मे रिपोर्ट, लेख, फीचर व कहानियां प्रकाशित. कहानी संग्रह 'सुरंग के पार की रोशनी' व उपन्यास 'स्वप्न ही रास्ता है' शीघ्र प्रकाश्य.

पुरस्कार : कहानी संग्रह 'सलिल नागर कमीशन आया बनाम सेवा जारी है' पर प्रथम 'अंतरीप सम्मान,' कहानी संग्रह 'चक्रवात' पर विजय वर्मा कथा पुरस्कार.

संपर्क : ३९१/३, अत्रेय मार्ग, राजपार्क, जयपुर ३०२ ००४

है. दरअसल स्त्री जब प्रेम करती है, तो मानवीय होती है. पुरुष जब दोस्ती/प्रेम करता है, वह औसत पुरुष होता है, मनुष्य नहीं. वह अपनी कल्पनाएं, फैन्टेन्सियों और यौनिकता से तथा सामाजिक दबाव के कारण इतना कुंठित होता है कि स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों का सहज विकास संभव ही नहीं हो पाता. लेकिन मुझे लगता है कि अब जो नयी पीढ़ी आ रही है, वह अपनी सेक्सुलिटी, उसकी पहचान और पूर्ति के प्रति सजग और प्रयोगशील है. इसीलिए समाजशास्त्रियों ने फीमनेस्ट मेन और विज्ञापनों में पत्नी को खाना बनाकर खिलानेवाले पतियों, बाहों में मुन्ना झुलानेवाले रैमंड के 'कंपलीट मेन' की छबियां प्रस्तुत करनी शुरू कर दी हैं. लेकिन अभी भी समाज में विकृतियां स्त्री-पुरुष के संबंध को सहज नहीं होने दे रहीं. दूसरी बात यह है कि जिस मध्य वर्ग में टी. वी. सीरियल्स के माध्यम से स्त्री को वापस घरों में धकेलने की, उन्हे सिंदूर और मंगलसूत्र में लपेटने की जो हिंदुत्ववादी साजिशें चल रही हैं, वे नयी हवा के विरुद्ध ख़तरनाक डिफेन्स मैकेनिज्म हैं. इनसे सावधान रहने की आवश्यकता है. जैसा मैंने पहले भी कहा स्त्री का दिल दरिया है, जिसमें अनेक पुरुषों से मैत्री समा सकती है लेकिन पुरुष एक म्यान, एक तलवार की मनोवृत्तिवाला है. इसीलिए आज की कामकाजी महिलाओं के कार्यक्षेत्र में होनेवाली पुरुषों से मित्रता बर्दाश्त नहीं होती. इसीलिए वे शक, क्लेश और कुंत्र से स्त्री को घेरने की कोशिश कर रहे हैं. उसे बदनाम कर, उस पर आक्षेप लगाकर अपनी कमजोरी छिपाते हैं.

● **आपने अधिकतर स्त्री-पुरुष के संबंधों, नारी के अकेलेपन पर बेहतरीन कहानियां लिखी हैं. यह अनायास हुआ है या व्यक्तिगत अनुभव काम कर रहे थे ?**

निश्चित रूप से ये मेरे व्यक्तिगत अनुभव हैं. मैं स्वभाव से रिबेल हूं. हमेशा प्रचलित प्रतिमानों के विरुद्ध जिस सच को समझा है, उसे जीवन में उतारने की कोशिश भी की है. कथाएं आधी हक़ीकत, आधा फसाना होती हैं, इसलिए यह सच भी है, कल्पना भी है.

● **क्या आज की कहानी सच को सच ही तरह व्यक्त कर पा रही है ?**

हर युग की कहानियां अपने युग के सच को अभिव्यक्त करती हैं. आज की कहानियों का फलक निश्चित रूप से नयी कहानियों के फ़लक से ज्यादा विस्तृत और जटिल है. एक साथ हमारे पास संजीव, अखिलेश, मनोज रूपड़ा, प्रियंवद, आनंद हर्षू, देवेंद्र, गीतांजलिश्री, अनामिका, जया जादवानी हैं. इतनी विविधता पहले नहीं थी, विषय को भी लेकर और शिल्प को भी लेकर.

● **अपने समकालीनों की तुलना में आप स्वयं को किस तरह अलग पाती हैं ?**

मैं स्वयं को समकालीनों की तुलना में उसी तरह अलग पाती हूं जैसे मेरा चेहरा, मेरा मन, मेरी सोच, विचारधारा, काया, मेरा जीवन दूसरे से अलग है.

● **आप रचना प्रक्रिया के दौरान किन मानसिक स्थितियों से गुज़रती हैं ?**

मैं पत्रकार रही हूं, इसलिए कहानी के हर पक्ष पर होमवर्क करती हूं. एक फैशन डिज़ाइनर पर कहानी लिख रही हूं जो मुंबई में रहती है. मुंबई मेरे लिए अनजाना है पर मुंबई में रहनेवाली मित्र से पूछकर नायिका के फ्लैट से लेकर उसके कार्यक्षेत्र मे आनेवाले बाजारों, स्थलों, विविधताओं का पता लगाया. आजकल

कहानियां बहुत मेहनत से लिखी जा रही हैं. प्रायः मुझे कोई मनस्थिति या आइडिया दिमाग में स्पार्क की तरह उपजता है, मैं उससे छिटपुट नोट्स लेती हूं और उस पर लगातार सोचती हूं. कभी वह भविष्य के लिए स्थगित हो जाती है, मन के तहखाने में पहुंच जाती है और कभी रातभर जगाकर अपने-आपको लिखवा ले जाती है. मेरे अनुभव मेरी कहानी के मूल स्रोत हैं. मैंने एक कठिन जीवन जिया, लीक से हटकर जीवन जिया, इसलिए अनुभव भी अच्छे-बुरे, अनूठे सब तरह के हुए. वे ही मेरी रचना-प्रक्रिया को प्रेरित करते हैं.

● **क्या आप अपने लेखन से संतुष्ट हैं ?**

मैं अपने लेखन से बिल्कुल भी संतुष्ट नहीं हूं. बरसों तक मैंने कलम हाथ में इसलिए नहीं ली कि मैं पहली बार ही मास्टर पीस देना चाहती थी. मैंने लिखना ३५ वर्ष की उम्र में शुरू किया, वह भी हरीष बाधानी जी द्वारा समझाये जाने पर कि प्रेमचंद ने भी इतनी कहानियों के बाद क़फन और गोदान लिखी. तब मुझे समझ आया कि सीढ़ियां चढ़ना ज़रूरी है. बहुत ज्यादा पढ़ने के कारण मुझे कभी अपना लिखा पूर्ण नहीं लगता, संतुष्ट नहीं करता. मेरी खुद की रचनाशीलता के साथ जिरह चलती रहती है. ३०-३५ कहानियां लिखने के बाद भी आज भी मुझे नयी कहानी शुरू करते समय बेहद घबराहट होती है.

● **लवलीन को एक बोल्ड महिला और बोल्ड लेखिका माना जाता है, क्या आपको इसकी कोई कीमत चुकानी पड़ी है ?**

मुझे इसकी ख़ासी कीमत चुकानी पड़ी है. स्त्री की स्वायत्तता उसके निजी संबंधों की बलि पर ही संभव है. शुरू शुरू में मैंने अपने अकेलेपन को मित्रों, कॉफी हाउस की बहसों और देर रात तक चलती पार्टियों के शोरगुल से मिटाने की कोशिश की. मुझे बोल्ड और साहसी मान लिया गया पर अंदर की औरत सिसकती रही क्योंकि उसको किसी ने गंभीरता से नहीं लिया. फिर मैंने लेखन को जीवन का ध्येय बनाया और अपने एकांत और अकेलेपन का सदुपयोग करना सीखा. कुछ साल इस खुमारी में ही बीत गये. फिर समझ में आया कि जीवन में एक केंद्रीय संबंध भी होना चाहिए और मैंने अपने जीवन को बाकायदा इसके लिए तैयार किया और आज मैं प्रसन्न और खुश हूं.

● **आप विवाहेतर संबंधों को किस रूप में देखती हैं ?**

मैं स्वाभाविक मानती हूं. विवाह संस्था अपने आप में प्रेम का नाश करनेवाली व्यवस्था है क्योंकि यह एक व्यवस्था है, रूटीन है जो प्रेम को ख़त्म कर डालती है. हमारे यहां विवाह बहुत कम आयु में कर दिये जाते हैं. विवाह की उम्र स्त्री के लिए ३०-३५ साल होनी चाहिए ताकि वह अपने कार्य, चयन के प्रति अपने अनुभवों के आधार पर निर्णय ले सके. प्रेमहीन विवाह निश्चित रूप से विवाहहीन प्रेम को जन्म देता है. दरअसल प्रेम को लेकर हमारे दिमाग में विशेष प्रकार का आवेग, आकर्षण का भरा माइंडसेट है. सब पहले से बंधा-बंधाया है, उसमें कुछ भी नया और प्रयोगशील होने की गुंजाइश नहीं है. जब जादू तक थोड़े समय बाद निष्प्रभ हो जाता है तो साथ रहते औरत-मर्द का आपसी आकर्षण लंबा कैसे चल सकता है ? जो साहसी होते हैं, वे एक मंजिल तक कभी नहीं रुकते. उन्हें नयी-नयी मंजिलें चुनौतियां देती रहती हैं ? विवाह समझदारी पर आधारित होना चाहिए, आकर्षण पर नहीं. जिस प्रकार मिर्गी के रोगी को पता नहीं होता कि कब दौरा पड़ेगा, उसी प्रकार जीवन में यह भविष्यवाणी नहीं की जा सकती कि कब नूतन प्रेम अवतरित हो जायेगा. इसके लिए न घर छोड़ने की ज़रूरत है न पति. दूसरों को कम से कम कष्ट देते हुए जीवन को उसके पूरे आयामों के साथ, डाइमेंशन्स के साथ जीना चाहिए. जीवन एक बार ही मिलता है और प्रेम की अनंत संभावनाएं हैं. सवाल आपके सामर्थ्य का है, साहस का है.

ए १/१०१ रिद्धी गार्डन, फिल्म सिटी रोड,
मलाड (पू.), मुंबई ४०० ०९७

रचनाएं आमंत्रित

'कथाबिंब' के लोकप्रिय स्तंभों 'आमने-सामने' और 'सागर-सीपी' के लिए रचनाएं आमंत्रित हैं. रचनाएं तैयार करने / भेजने से पहले कृपया पूर्व-सूचना दें ताकि आवश्यक सुझाव दिये जा सकें. स्तरीय कहानियां भी आमंत्रित हैं.

-संपादक

पुस्तक समीक्षा

अन्याय के प्रतिकार का सबल स्वर

✍ सुमित्रा अग्रवाल

''गमन'' (कहानी संग्रह): *विजय*

प्रकाशक - अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली ११० ००२

मूल्य : २०० रु.

विजय के इस कहानी-संग्रह में २१ कहानियां संकलित हैं. इन कहानियों में आधुनिक मनुष्य अपने जीवन की सारी जटिलताओं और विसंगतियों के उलझे मकड़जाल के साथ उपस्थित तो है परंतु कहानियों की विशेषता यह है कि यह मकड़जाल उसके मूल्यबोध, उसकी आस्था, संघर्ष की उसकी सामर्थ्य और जिजीविषा को कहीं भी धूमिल नहीं कर पाता. अन्याय और अत्याचार पात्र मौन भाव से नहीं सहन करते वरन् भरपूर प्रतिकार करते हैं.

विजय के पात्र जीवन मूल्यों के प्रति गहरी आस्था द्वारा संचालित हैं, उनकी जिजीविषा प्रखर है. परिवेश की ऑक्टोपसी जकड़ को सिरे से नकारते हुए वे अपना प्रतिकार समय की बही में दर्ज़ कराते हैं. न वे विपरीत स्थितियों से उपजी हताशा के गर्त में गिरते हैं, न आततायी को क्षमा करते हैं. उनके लिए न अतीत महत्वपूर्ण है, न भविष्य. वर्तमान और केवल जीवंत वर्तमान पर उनकी दृष्टि टिकी है.

प्रस्तुत संग्रह की शीर्षक कहानी 'गमन' उस आधुनिक मानसिकता की कहानी है जो धन की सामर्थ्य पर अटूट विश्वास रखती है और मानती है कि धन से सब कुछ खरीदा जा सकता है. 'गमन' की प्रताड़ित स्त्री जो एडवोकेट प्रताप श्रीवास्तव की कार के पहियों तले अपने पति और पुत्र दोनों को खो चुकी है, अपने जीवन में उपजे इस अथाह शून्य से दिशाहारा नहीं होती है. बहुत धैर्य के साथ वह उस कार के मालिक की तलाश करती है जिसने उसके संपूर्ण जीवन को एक गहरे शून्य में बदल दिया है. अपने पर हुए अन्याय के प्रतिकार के लिए वह प्रताप श्रीवास्तव के पुत्र अरू को उठाकर तो ले जाती है पर इसी क्षण उसके भीतर बैठा मूल्यबोध जाग उठता है और अथाह जल में स्वयं भी कूदकर अरू की हत्या को वह अपनी आत्महत्या से जोड़ देती है. एक्सीडेंट में वर्षों पूर्व मरा उसका बच्चा अरू ही है जो सड़क पर मरने के बाद अब पुनः मर जाता है - पहले पिता के पार्श्व में और अब मां की छाती से बंधा. प्रताप श्रीवास्तव और पुलिस दोनों ही इसे नहीं समझ पाये. क्योंकि उनकी दृष्टि टिकी है फिरौती पर. उस गरीब असहाय अकेली स्त्री ने अपने प्राणों का मोल चुकाकर अपना प्रतिकार कर लिया. और इसी के साथ जुड़ा है घोषाल महाशय का 'गमन', यह कहता हुआ - "हमने स्वीकारते समय कभी अस्वीकारा नहीं. पश्चिम की हवा के साथ बहते हुए हम आदमी को भूल गये. वहां कारखाने बढ़े तो यहां भी बढ़े. साधन और धन के मुकाबले आदमी छोटा होता गया. वहां के कानून को हम यहां भी ले आये और वाक्‌चातुर्य आदमी के सत्य से ज्यादा प्रभावी हो गया. वहां के पूंजीवाद को हम यहां ले आये और आम आदमी भिखारी हो गया."

'वापसी' कहानी की चौलाबाई अपनी छोटी सी फूलों की दुनिया में एक फूल बनकर खिली हुई है. भू माफिया के पैने पंजे जब उसे दबोच लेते हैं तब स्थिति की विकरालता और अपनी असहायता से वह सहमती नहीं है. अपने पति को वह पुनः स्वीकारती है जब वह अपनी पत्नी की अस्मत पर हाथ डालनेवाले जाधव का खून कर अपने अपमान का प्रतिकार कर लेता है.

'कद' कहानी में भी अकेले मसूद के चारों तरफ जब भेड़िये ही भेड़िये हैं तब आदिवासियों के हक़ की लड़ाई लड़ते अख्तर मियां जेल में उसे अपना कद बढ़ाने की ही सलाह देते हैं. क्योंकि अमरबेल भी हरीभरी बेलों और पौधों पर फैलकर उन्हें चूस जाती है मगर जिन पेड़ों के कद बड़े होते हैं उनकी तरफ मुंह भी नहीं करती. अपना कद बढ़ाना, ऊंचे दरख्त में खुद को बदलने की कोशिश करना ही अन्याय के प्रतिकार का उपाय है. और अपनी अम्मी पर हुए अत्याचार के प्रतिकार के लिए दृढ़प्रतिज्ञ मसूद के हाथ पैर हुंकार से लंबे होने लगे, कंबल छोटा पड़ गया और उसने महसूस किया कि उसका कद बढ़ रहा है. 'जब थालियां बजने लगीं' में भी यही हुंकार है, जागृति है. सदियों से दबी कुचली नारी जब जाग जाती है और अपने अधिकारों के लिए सतर्क हो जाती है तब कंदास्वामी जैसा पियक्कड़ और अत्याचारी पति भी जागने के लिए विवश हो जाता है. पत्नी डरकर चुप रह भी जाती है पर बच्चे उसका सबल प्रतिरोध करते हैं और रात भर थालियां उसके कान में बजती रहती हैं.

'अली रुक जाओ' में झोपड़पट्टी के परिवेश में रहने वाली रज़िया है जो रऊफ मियां के प्रत्येक छलबल का मौन प्रतिरोध करती है और अपने बेटे अली के भविष्य को संवारने में अपना वर्तमान खपा देती है. इस सीमा तक कि अली के जो साथी उसे सताते थे, छेड़ते थे वे भी अली से रुकने का अनुरोध करते हैं ताकि उसके साथ जुड़ा उनका छोटा सा स्वप्न उन्हें छोड़ कर न चला जाये. अली की मां में वे अपनी मां की छाया ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं.

विजय के पात्र जिजीविषा के मूर्त रूप हैं. 'उसका चावल' की उरसुला को जीवन ने बार-बार यातना की अग्नि में ढकेला पर वह यातना की अग्नि उसकी जिजीविषा को झुलसा नहीं सकी. और जंगल में रहते क्रांतिकारी लड़कों की अम्मा बनकर वह उन्हें भरपेट चावल खिलाकर अपने खंडित जीवन की सार्थकता खोज लेती है. पर जब कमीनों के हाथ कानून बिक जाता है तब कुछ

कत्ल फ़र्ज बन जाते हैं और उरसुला ऐसा ही फ़र्ज पूरा कर उन लड़कों की बोली बोलने लगती है.

लेखक का जीवन के प्रति यही सकारात्मक दृष्टिकोण 'मरमेड' में भी दृष्टिगत होता है. इस कहानी का नायक प्रशांत स्वकेंद्रित तो है पर कुटिल नहीं. अपनी स्वकेंद्रित मनोवृत्ति के चलते वह मरमेड रेवा पर अन्याय तो करता है पर अन्याय की फांस की चुभन से बच नहीं पाता. यह चुभन भीतर ही भीतर अधटूटे कांटे की तरह उसकी चेतना में कसकती रहती है. प्रशांत एक इन्क्रीमेंट के लिए जूट मिल के मजदूरों का हक अजगर की तरह निगल लेता है. कामरेड दिलीप बोस के हत्यारे को पहचानते हुए भी खामोश रहता है, उज्जवला का दर्शन स्वीकार कर जीवन और सुविधा की आड़ में शिखंडी बन जाता है पर उसकी अंतरात्मा मरमेड रेवा को कछुआ बनते देखकर उसे. कचोटती ही रहती है. और उसके अचेतन में रेवा तैरती रहती है - मरमेड रेवा.

'खोज' यथार्थ के अंधेरे से साक्षात कर प्रकाश की किरण की खोज की कहानी है. छोटे भाई गणपति के रचे जाल में फंसकर दादासाहेब खापर्डे का अतीत तो झुलस गया पर उनकी जिजीविषा ने उनके वर्तमान को उस जाल में फंसने से बचा लिया. औरों के लिए सोने के अंडे देनेवाली मुर्गी बने रहना अस्वीकार कर वे सोफिया के साथ नये जीवन का सूत्रपात करने और अपने बेटे कबीर की खोज तथा बालगृह की स्थापना को अपना जीवन ध्येय बना लेते हैं. स्वयंसिद्धा तेजस्विनी पुष्पा खापर्डे परिवार की मोहर के बिना भी जी लेने का अदम्य साहस रखती है. और अपनी अस्मिता पर हुए प्रहार का प्रबल प्रतिकार करती है.

'कथा सावित्री की और बेताल' में प्रश्न पूछते बेताल का परंपरागत ढांचा अपना कर सोमोती और सावित्री की कहानी कही गयी है. कथा के अंत में बेताल का प्रश्न है - बता सावित्री चांद से विवाह करेगी या नहीं ? ज़वाब गलत निकला तो तेरी खोपड़ी चकनाचूर कर दूंगा. सावित्री अपने सपनों के राजकुमार से विवाह करना चाहती है पर युग के ज्वलंत यथार्थ के प्रकाश में खड़ी सोमोती जानती है कि आज जो भी देश और जनता के लिए क्रांति करता है, उसे देशद्रोही करार दिया जाता है. मंत्री, संतरी, पुलिस सबको उससे अपने अस्तित्व का ख़तरा हो जाता है. वे एक दिन उसे मार देते हैं. फिर शादी के बाद विधवा बनकर सावित्री को भी किसी के यहां बर्तन मांजने होंगे और भरी दोपहरी बर्तन मंजवानेवाला उसे बिस्तर पर खींचता रहेगा. भूख और समाज के भय से वह बोल भी नहीं पायेगी. और अदालत में गयी तो बलात्कार की शिकार होने की ज़गह अदालत में वकील उसे छिनाल सिद्ध कर देगा. आदर्श और यथार्थ की यही सहयात्रा 'पदयात्रा' कहानी में भी चल रही है. भ्रष्टाचार के अंतहीन जाल में उलझे वर्तमान परिवेश में जब कोई छेदीलाल मिश्रा गांधी के आदर्शों की मशाल थामकर उसके उजाले में पदयात्रा पर निकलता है तब उस पदयात्रा की अंतिम परिणति गांधी की तस्वीर के यमुनाजल में विसर्जन से होती है. जब तक छेदीलाल मिश्रा यथार्थ को समझकर स्वीकार कर पाते तब तक देर हो चुकी थी. अंततः उनकी साइकिल पुलिस थाने में खड़ी उनकी प्रतीक्षा करती रही और विवश चंद्रा आत्महत्या कर लेती है और पारुल फाइवस्टार होटल में नाइटड्यूटी कर लेती है. नारी की देहशुचिता का प्रश्न 'हुमा' और 'वापसी' दोनों में ध्वनित है. स्वर्ग की एक काल्पनिक चिड़िया का नाम है 'हुमा'. नारायणन जिस अक्षत कौमार्य की तलाश में भटकता रहा और जिस काल्पनिक सुख के लिए तरसता रहा उसका अस्तित्व भी हुमा जैसा है जो करोड़ों लोगों को अनजाने मिलकर भी ध्यान में नहीं आता है पर जो उसे नहीं पाते हैं वे तड़पते रहते हैं.

विजय की कहानियों का फलक व्यापक है. विविध अंचलों से जुड़े परिवेश को उन्होंने अपनी कहानियों में साकार किया है. बहुश्रुतता ने कहानियों की भाषा को धार दी है तो कहीं-कहीं अतींद्रियता के स्पर्श द्वारा वे काल की सीमा को लांघकर अपनी कहानियों की प्रभावत्ता को बढ़ा देते हैं. विशेषतः उनके नारी पात्र अपनी अस्मिता के प्रति अत्यधिक आग्रहशील हैं. वे न केवल स्वयं अग्नि के स्फुलिंगों सदृश ज्वलंत और तेजस्वी हैं वरन् अपने संपर्क में आनेवाले पुरुषों में भी ऊर्जा का संचार करते हैं. उनके पात्रों की दृष्टि टिकी है वर्तमान पर. न वे अतीत के जल में डूबे रहते हैं न भविष्य की वायवीयता में. वर्तमान और उस वर्तमान के परिष्कार में ही जीवन की छिपी संभावनाओं की वे खोज करते हैं. कलाकार की संवेदना और वैज्ञानिक की तीक्ष्ण अंतर्दृष्टि इन कहानियों में आद्यत वर्तमान है.

३५/३६ नमित एपार्टमेंट, उष्मा नगर,
मलाड, मुंबई ४०० ०६४

विरेचित कथाओं का संग्रह

वेद हिमांशु

रेत की आंख (कहानी संग्रह) : राजेंद्र कोचला 'अंबर'
प्रकाशक : राजेंद्र कोचला 'अंबर', प्राचार्य शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, मानपुर (तहसील महू, जिला इंदौर).
मूल्य : ८० रु.

'रेत की आंख' राजेंद्र कोचला 'अंबर' का पहला कथा संग्रह है जिसमें उनकी चौदह रचनाएं संकलित हैं. समकालीन जीवन की बेचारगी, हताशा और जिजीविषा को व्यक्त करती ये कहानियां इस बात को रेखांकित करती हैं कि आर्थिक दबावों ने आज के मनुष्य की संवेदनाओं को जिस कदर रौंदा है वह बेहद भयावह है. अपनी मुट्ठी में दर्दों को रेत की मानिंद दबाये आज का आदमी निहायत खोखली ज़िंदगी जी रहा है.

इस घुटन और संत्रास का स्याह धुंआ जब ज़ेहन में बढ़ जाता है तो लेखक मन उसे उजले कागज़ पर उतार कर विरेचित होना चाहता है. ऐसी ही विरेचित कथाओं का संग्रह है 'रेत की आंख' जिसके माध्यम से लेखक न केवल अपने अतीत की परछाइयों का पीछा करता है बल्कि यह भी संकेत करता है कि अतीत के मोहपाश से मुक्त हो पाना उसके बस में नहीं है.

'भोक्ता' के स्तर पर यह उसकी विवशता है और रचनाकार की हैसियत से उसकी पहचान भी. भोगा हुआ यथार्थ इन रचनाओं में सर्वत्र परिलक्षित है तथा परिवेश की ईमानदार सच्चाइयों की कसौटी पर ये कहानियां खरी उतरी हैं जिनमें वर्ग वैषम्य है ('दो फुट का इन्सान' व 'चीथड़ों का देवता'), शहर की रेतीली संवेदन शून्यता है ('गूंगे इन्सानों का शहर') और नारी शोषण की टीस है ('मिस संध्या').

बावजूद इसके गौर तलब और ज़रूरी मुद्दा यह कि शिल्प के स्तर पर सभी कहानियां अभिव्यक्ति की हड़बड़ाहट और जल्दबाज़ी का शिकार हो गयी हैं. इससे हुआ यह है कि अनुभव के स्तर पर तो ये प्रभावित करती हैं पर 'कहानी' के कलागत मूल्यों और विधागत सौंदर्य के प्रति अधिक आशा नहीं जगातीं.

लेखक के लिए यह जानना ज़रूरी होगा कि पात्रों और जीवनानुभवों को विधागत शिल्प में दिया रूपाकार ही उन्हें रचना की समग्रता और गरिमा प्रदान करते हैं. उसके कालजयी होने न होने की स्थिति तो आगे की बात है.

यह बात मैं लेखक की इस स्वीकारोक्ति के बावजूद कह रहा हूं कि 'उन्होंने जो समाज के बीच में रहकर भोगा है उसे संजोया है और ऐसा करने में कहानी के सभी तत्वों के प्रति वे चिंतित नहीं रहे हैं!'

केंद्र संयोजक-पाठक मंच,
डी-१५, विद्युत नगर, शाजापुर ४६५००१ (म. प्र.)

स्मरणीय अनुभवों की श्रृंखला

क्रांति

"अतीत की झलकियां" (संस्मरण-संग्रह) : भागवत प्रसाद मिश्र 'नियाज़' - **प्रकाशक** : स्वयं लेखक, एफ.एफ.-४ बी ब्लॉक, सन पॉवर फ्लैटस्, गुरुकुल रोड, अहमदाबाद-५२. **मूल्य** : १०० रु.

श्री भागवत प्रसाद मिश्र 'नियाज़' अंग्रेज़ी के अध्यापन से जुड़े होने के बावजूद आजीवन हिंदी के समर्पित अध्येता तथा लेखक रहे हैं. उनका व्यक्तिगत, अध्यापकीय तथा लेखकीय जीवन बहुआयामी तथा वैविध्यपूर्ण रहा है. सन् १९१८ में राठ (उ. प्र.) में अपने जन्म से लेकर अब अहमदाबाद में सेवानिवृत्ति तक मिश्रजी उ. प्र., दिल्ली, म. प्र., आंध्र प्रदेश तथा गुजरात में कई शैक्षणिक संस्थाओं में उच्च पद पर कार्यरत रहे हैं. बीस से अधिक पुस्तकों के रचयिता मिश्रजी के खाते में एक ओर जहां 'कारा', 'कस्मै देवाय' जैसे खंडकाव्य हैं तो दूसरी ओर 'जज़्बात', 'तलाश' जैसे गज़ल संग्रह भी. उन्होंने इंग्लैंड की शिक्षा प्रणाली पर पुस्तक लिखी तथा अंग्रेज़ी से हिंदी में अनुवाद कार्य भी बड़ी दक्षता के साथ किये.

जीवन के अस्सी वसंत पार कर लिखी पुस्तक 'अतीत की झलकियां' मिश्रजी की एक अत्यंत विशिष्ट कृति है, जिसमें उनके बीस संस्मरणों का समावेश है. आप पुरानी पीढ़ी के उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से हैं जिन्हें दद्दा मैथिली शरण गुप्त, निराला, वृंदावनलाल वर्मा, रामविलास शर्मा को निकट से देखने और जानने का अवसर मिला. उन्होंने गणेश शंकर विद्यार्थी का बलिदान अपने शालेय जीवन में अपनी आंखों के सामने मात्र तेरह वर्ष की आयु में देखा. मिश्रजी ने एक यादगार शाम दुष्यंतकुमार और राजेश्वरी के साथ बिताई. वे अरुण कुमार सेन जैसे संगीतकार और साहित्यकार के भी अंतरंग रहे.

'अतीत की झलकियां' पढ़ना अपने आप में एक स्मरणीय अनुभव में से गुज़रना है. ये संस्मरण मिश्रजी ने अत्यंत विनम्रता, सरलता, सहजता और उदारता के साथ लिखे हैं. इनमें उन्होंने कहीं भी उम्र के साथ आने वाले अहं को आड़े नहीं आने दिया और न ही हिंदी के दिग्गज साहित्यकारों को व्यक्तिगत रूप से जानने का अभिमान प्रदर्शित किया है. श्री गिरधारी लाल सराफ ने अपने प्राक्कथन में सही ही कहा है, "मिश्र जी की शैली थ्री-डायमेंशनल सिनेमा जैसी है... कई ज़गह देखा है कि उनकी शैली ऐसा प्रभाव डालती है कि हमारी आंखों से टप-टप आंसू ढल पड़ते हैं. मिश्र जी की शैली इतनी सशक्त है कि वह आपको अवसर पर रूलाये बिना न रहेगी."

'अतीत की झलकियां' में दो तरह के संस्मरण हैं. एक तो हैं लेखक के माता-पिता और कुछ सुपरिचितों से जुड़ी वे यादें जिन्होंने उनके मन पर एक अमिट प्रभाव छोड़ा है. कानपुर का भूरेलाल चाटवाला, ललितपुर के सहृदय अधिकारी बशीर अहमद खां, आगरा के रामकृष्ण सक्सेना, जी.टी. एक्सप्रेस में भोपाल स्टेशन पर बरसों बाद मिला विद्यार्थी अब्दुल सईद (जो अब टी.सी. हो गया था.) भले ही हमारे लिए अपरिचित हो किंतु संस्मरण ऐसे मार्मिक व स्वाभाविक हैं कि ये पात्र शीघ्र ही हमारे परिचित हो जाते हैं तथा हमें अपने आसपास कहीं देखे-भाले से लगते हैं. ऐसे ही हैं लेखक को पंद्रह वर्ष बाद मिले मुंशी देवीदीन, राठ के माध्यमिक विद्यालय में कभी मिश्र जी के प्राचार्य पिता का कोरी जाती का मेधावी छात्र, जिसके हाथों पानी पीकर वे सभी के कोप के पात्र बने इतने कि लोगों ने देवीदीन को भी पीटा और प्राचार्य महोदय को. ये संस्मरण हमें इनकी आत्मीयता के कारण महादेवी वर्मा के 'घीसा' और 'भक्तिन' के करीब लगते हैं.

इस घुटन और संत्रास का स्याह धुआं जब ज़ेहन में बढ़ जाता है तो लेखक मन उसे उजले कागज़ पर उतार कर विरेचित होना चाहता है. ऐसी ही विरेचित कथाओं का संग्रह है 'रेत की आंख' जिसके माध्यम से लेखक न केवल अपने अतीत की परछाइयों का पीछा करता है बल्कि यह भी संकेत करता है कि अतीत के मोहपाश से मुक्त हो पाना उसके बस में नहीं है.

'भोक्ता' के स्तर पर यह उसकी विवशता है और रचनाकार की हैसियत से उसकी पहचान भी. भोगा हुआ यथार्थ इन रचनाओं में सर्वत्र परिलक्षित है तथा परिवेश की ईमानदार सच्चाइयों की कसौटी पर ये कहानियां खरी उतरी हैं जिनमें वर्ग वैषम्य है ('दो फुट का इन्सान' व 'चीथड़ों का देवता'), शहर की रेतीली संवेदन शून्यता है ('गूंगे इन्सानों का शहर') और नारी शोषण की टीस है ('मिस संध्या').

बावजूद इसके गौर तलब और ज़रूरी मुद्दा यह कि शिल्प के स्तर पर सभी कहानियां अभिव्यक्ति की हड़बड़ाहट और जल्दबाजी का शिकार हो गयी हैं. इससे हुआ यह है कि अनुभव के स्तर पर तो ये प्रभावित करती हैं पर 'कहानी' के कलागत मूल्यों और विधागत सौंदर्य के प्रति अधिक आशा नहीं जगातीं.

लेखक के लिए यह जानना ज़रूरी होगा कि पात्रों और जीवनानुभवों को विधागत शिल्प में दिया रूपाकार ही उन्हें रचना की समग्रता और गरिमा प्रदान करते हैं. उसके कालजयी होने न होने की स्थिति तो आगे की बात है.

यह बात मैं लेखक की इस स्वीकारोक्ति के बावजूद कह रहा हूं कि 'उन्होंने जो समाज के बीच में रहकर भोगा है उसे संजोया है और ऐसा करने में कहानी के सभी तत्वों के प्रति वे चिंतित नहीं रहे हैं !'

केंद्र संयोजक-पाठक मंच,
डी-१५, विद्युत नगर, शाजापुर ४६५००१ (म. प्र.)

स्मरणीय अनुभवों की श्रृंखला

क्रांति

"अतीत की झलकियां" (संस्मरण-संग्रह) : भागवत प्रसाद मिश्र 'नियाज़' - **प्रकाशक** : स्वयं लेखक, एफ.एफ.-४ बी ब्लॉक, सन पॉवर फ्लैटस्, गुरुकुल रोड, अहमदाबाद-५२. **मूल्य** : १०० रु.

श्री भागवत प्रसाद मिश्र 'नियाज़' अंग्रेजी के अध्यापन से जुड़े होने के बावजूद आजीवन हिंदी के समर्पित अध्येता तथा लेखक रहे हैं. उनका व्यक्तिगत, अध्यापकीय तथा लेखकीय जीवन बहुआयामी तथा वैविध्यपूर्ण रहा है. सन् १९१८ में राठ (उ. प्र.) में अपने जन्म से लेकर अब अहमदाबाद में सेवानिवृत्ति तक मिश्रजी उ. प्र., दिल्ली, म. प्र., आंध्र प्रदेश तथा गुजरात में कई शैक्षणिक संस्थाओं में उच्च पद पर कार्यरत रहे हैं. बीस से अधिक पुस्तकों के रचयिता मिश्रजी के खाते में एक ओर जहां 'कारा', 'कस्मै देवाय' जैसे खंडकाव्य हैं तो दूसरी ओर 'जज़्बात', 'तलाश' जैसे गज़ल संग्रह भी. उन्होंने इंग्लैंड की शिक्षा प्रणाली पर पुस्तक लिखी तथा अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद कार्य भी बड़ी दक्षता के साथ किये.

जीवन के अस्सी वसंत पार कर लिखी पुस्तक 'अतीत की झलकियां' मिश्रजी की एक अत्यंत विशिष्ट कृति है, जिसमें उनके बीस संस्मरणों का समावेश है. आप पुरानी पीढ़ी के उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से हैं जिन्हें दद्दा मैथिली शरण गुप्त, निराला, वृंदावनलाल वर्मा, रामविलास शर्मा को निकट से देखने और जानने का अवसर मिला. उन्होंने गणेश शंकर विद्यार्थी का बलिदान अपने शालेय जीवन में अपनी आंखों के सामने मात्र तेरह वर्ष की आयु में देखा. मिश्रजी ने एक यादगार शाम दुष्यंतकुमार और राजेश्वरी के साथ बिताई. वे अरुण कुमार सेन जैसे संगीतकार और साहित्यकार के भी अंतरंग रहे.

'अतीत की झलकियां' पढ़ना अपने आप में एक स्मरणीय अनुभव में से गुज़रना है. ये संस्मरण मिश्रजी ने अत्यंत विनम्रता, सरलता, सहजता और उदारता के साथ लिखे हैं. इनमें उन्होंने कहीं भी उम्र के साथ आने वाले अहं को आड़े नहीं आने दिया और न ही हिंदी के दिग्गज साहित्यकारों को व्यक्तिगत रूप से जानने का अभिमान प्रदर्शित किया है. श्री गिरधारी लाल सराफ ने अपने प्राक्कथन में सही ही कहा है, "मिश्र जी की शैली थ्री-डायमेंशनल सिनेमा जैसी है... कई ज़गह देखा है कि उनकी शैली ऐसा प्रभाव डालती है कि हमारी आंखों से टप-टप आंसू ढल पड़ते हैं. मिश्र जी की शैली इतनी सशक्त है कि वह आपको अवसर पर रूलाये बिना न रहेगी."

'अतीत की झलकियां' में दो तरह के संस्मरण हैं. एक तो हैं लेखक के माता-पिता और कुछ सुपरिचितों से जुड़ी वे यादें जिन्होंने उनके मन पर एक अमिट प्रभाव छोड़ा है. कानपुर का भूरेलाल चाटवाला, ललितपुर के सहृदय अधिकारी बशीर अहमद खां, आगरा के रामकृष्ण सक्सेना, जी.टी. एक्सप्रेस में भोपाल स्टेशन पर बरसों बाद मिला विद्यार्थी अब्दुल सईद (जो अब टी.सी. हो गया था.) भले ही हमारे लिए अपरिचित हो किंतु संस्मरण ऐसे मार्मिक व स्वाभाविक हैं कि ये पात्र शीघ्र ही हमारे परिचित हो जाते हैं तथा हमें अपने आसपास कहीं देखे-भाले से लगते हैं. ऐसे ही हैं लेखक को पंद्रह वर्ष बाद मिले मुंशी देवीदीन, राठ के माध्यमिक विद्यालय में कभी मिश्र जी के प्राचार्य पिता का कोरी जाती का मेधावी छात्र, जिसके हाथों पानी पीकर वे सभी के कोप के पात्र बने इतने कि लोगों ने देवीदीन को भी पीटा और प्राचार्य महोदय को. ये संस्मरण हमें इनकी आत्मीयता के कारण महादेवी वर्मा के 'घीसा' और 'भक्तिन' के करीब लगते हैं.

दद्दा पर लिखे दोनों संस्मरणों को पढ़ते समय लगता है मानो इस समय मिश्र जी की काव्य प्रतिभा अपने सर्वोच्च बिंदु पर है. 'हिंदी की श्रीवृद्धि में उनका योगदान हमारे या आपकी साहित्यिक श्रद्धांजलियों द्वारा नहीं, स्वयं उनके कृतित्व द्वारा अमर रहेगा (पृष्ठ ३३)'. 'द्विवेदी युग से आज तक के उतार-चढ़ाव में प्रवाह की विविध गतियों में जो नौका निरंतर धारा के ऊपर ही रही और जिसे जलवृष्टि का वेग न तो डुबा सका और न बहा सका वैसी नौका यदि कोई है तो राष्ट्रकवि की ही है. ... पर उस नौका में बैठे हुए कर्णधार को कितनों ने देखा ? और जिन्होंने देखा क्या उन्हें यह विश्वास हो सका कि इस कृशकाय शरीर, कंपित करों और आर्द्र नयनों में वह बल है, वह शक्ति और वह आकर्षण है, जो काल को भी पराभूत कर दे (पृष्ठ २९).' इसी तरह इतिहास पुरुष - बाबू वृंदावन लाल वर्मा, हिंदी साहित्य के युग पुरुष - डॉ रामविलास शर्मा, शारदा मंदिर की सर्वश्रेष्ठ उपासिका महादेवी वर्मा,... संगीत और साहित्य के संगम - डॉ. अरुण कुमार सेन के संस्मरण भी मिश्रजी ने बहुत शिद्दत के साथ लिखे हैं. निरालाजी के निकट रहे लोग उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि दें यह तो सहज समझ में आता है परंतु यह मिश्रजी की उदारता है कि वे निरालापुत्र रामकृष्ण त्रिपाठी पर भी वैसा ही भावप्रवण संस्मरण लिखते हैं.

१९३७ में क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर के छात्र रहते रिटायर्ड मेजर आर. बसु की प्रतिबंधित पुस्तक 'राइज़ ऑफ क्रिश्चियन पॉवर इन इंडिया' कानपुर से भोपाल के रस्ते ट्रेन में पढ़ते हुए पुलिस ने उनसे की पूछताछ की रोचक घटना भी इस पुस्तक में है जहां उन्हें क्रांतिकारी समझ लिया जाता है, और है देशभक्त गणेश शंकर विद्यार्थी की शहादत का ६६ वर्ष बाद किया सजीव चित्रण.

आदि से अंत तक यह कृति एक पठनीय कृति है. इतना ही नहीं यह एक संग्रहणीय, स्मरणीय कृति है. अपने समकालीन व्यक्तियों और साहित्यकारों से युवा पीढ़ी को परिचित कराने, तथा अपने समय के लोगों को उन्हें पुनः स्मरण दिलाने हेतु भी भागवतप्रसाद मिश्र 'नियाज़' निश्चित ही बधाई के पात्र हैं.

२०३, दूसरी मंजिल, टॉवर-३, साईनाथ स्क्योर,
मदर्स स्कूल के पीछे, वडोडरा-३९० ०२१

आसपास के जीवन प्रसंगों की कहानियां

निर्मला डोसी

और जंग जारी है (क. सं.) : उषा भटनागर,
प्रकाशक : आधुनिक प्रकाशन, मौजपुर, नयी दिल्ली ११० ०५३
मूल्य : १५० रु.

'अंदर के गहरे सन्नाटे को भरने की कोशिश है यह'...अपने तीसरे कथासंग्रह के प्रारंभ में लिखा है उषा भटनागर ने और उसका नाम रखा है "और जंग अभी जारी है." जाहिर है उनके अंदर का रचनाकार सन्नाटे से उभरेगा और जंग को जारी रखेगा. बेशक इसके हथियार कुछ भी हो सकते हैं. तूलिका या फिर लेखनी...यहां यह बता देना मुनासिब होगा कि उषाजी एक सफल चित्रकार भी हैं.

उषा जी की कहानियां कोई बहुत बड़े दावे नहीं करतीं. कहीं से भी नारी विमर्श की बात भी नहीं उठतीं. दैनिक जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से वे कथानक गढ़ती चलती हैं. शिल्प कथ्य पर सवार नहीं होता, साथ-साथ रहता है. यद्यपि कथाप्रसंग जीवन प्रसंगों से चुने हैं, लेकिन उनका ट्रीटमेंट अपना निजी है. कथ्य है, विषयवस्तु की पर्याप्तता है. भाषा का सुरुचि संपन्न प्रवाह भी है, और संवेदन की गहनता भी शब्दों के पार नज़र आती है जो पाठक को छूती है.

'वह एक रात' की 'तन्वी' घर भर की ज़रूरतों का ख्याल रखती है. महानगरीय जीवनचर्या की व्यस्त लगी-बंधी उबाऊ शैली के बीच यकायक चंद घंटे बत्ती गुल हो जाती है...तब सभी लोगों को बहुत दिनों से स्थगित काम याद आ जाते हैं, जोकि टी.वी. के मोह में नहीं हो पा रहे थे. बच्चों को दादी के पास लेट कर कहानी सुनना है...क्योंकि कार्टून देख नहीं सकते आज...एक सरल सी कहानी रची है मगर कितने सारे बिंदु खुद-ब-खुद उठते चले जाते हैं. "मैं ही हूं" चोला बदल कर पोते के रूप में आ गये दादा. बहू, 'अंजलि' से वह सब करवाते हैं जो ससुर का करने से वह कतराती थी. इस कहानी का 'क्राफ्ट' अलग अंदाज का है. प्रकृति से दूर हो जाने वाली शहरी सभ्यता और बूढ़े बीमार बुजुर्गों की अवहेलना, ये दो बातें इस कहानी से उभरती हैं.

'जन्मों तक' में मेघना को अम्माजी का आशीर्वाद याद हो आया. यह सात जन्म, कितने जन्मों तक ? संस्कृति संभालने का ठेका औरतों का ही है क्या ? इस पर भी वह 'करवाचौथ' का व्रत रखती है. 'सपने' कहानी की सास, 'सास' नामधारी आक्रामक जीव से बिल्कुल विपरीत है. सहृदय, मां जैसी मगर फिर भी मां नहीं समझ सकी बहू उसे...और सच भी है सास अपना कलेजा निकाल कर रख देती है कि 'मुझे संगम ले चलो, वहां नहलायो, फिर अपनी बांहों के घेरे को खोल मुझे बह जाने दो...' आखिर इतनी हताशा क्यों...? कहीं उनके प्रति बरती गयी उपेक्षा, अपमान ही तो इसका कारण नहीं है ? जानवर की भी ठीक देखभाल न होने पर 'क्रूएल्टी प्रिवेन्शन' वाले घेरा डाल कर बैठते हैं, मगर असहाय बूढ़ों के लिए कौन धरना देने वाला

है ? इस प्रकार का चित्रण यद्यपि टाइप बनता जा रहा है मगर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अपनी विषयवस्तु में ये कहानियां चाहे 'अंतिम संस्कार' हो या 'मैं ही हूं' में वर्तमान समय की दिन प्रतिदिन, अप्रिय और अपरिचित होती जा रही अमानवीय स्थितियों की गवाही में खड़ी हो जाती हैं. वस्तुतः कोई भी रचनाकार इसे अनदेखी नहीं कर सकता कि हमारा आज और हमारा समाज इतना निर्मम व मूल्यहीन होता जा रहा है. 'हादसा' कहानी नारी की अस्मिता की कथा है. 'अरे कैसी माडर्न लड़की हो ?' कोई प्रिकाशन नहीं लिया ? और घायल अंकिता कह उठती है- 'बच्चा शादी से पहले हो तो औरत का और बाद में हो तो पुरुष का, वाह रे पुरुष का न्याय...? पुरुष की स्वार्थी मनोवृत्ति का चित्रण और हादसों से गुज़र जाने के बाद नारी की सशक्त निर्भर छवि का चित्रण किया गया है.

'पालने का ढंग' अलग रंग-रूप की कहानी है. जहां पश्चाताप रंग में रंगी मां रोमा है और पालतू बछड़े सी घर भाग आने को आतुर होस्टल में पढ़ने वाली बेटी 'मीनू' है, जो आधुनिका मम्मी की जबरदस्त बेबाकी से बौखला उठती है. कहानी की बुनावट समाज में उलझते से जा रहे ताने-बाने की बानगी है. नारी स्वातंत्र्य के नाम पर सुविधावादी उपभोग वृत्ति और स्वछंदता के नाम पर बच्चों की जिम्मेदारी से मुक्त हो जाने वाली दोहरी मानसिकता आशंकित करती है. उस पर सोशल वर्क करने का पाखंड करने वाली आधुनिकाओं का गणित भी कम हास्यापद नहीं होता.

आर्थिक रूप से पराश्रित औरत का शोषण होता है और इस सनातन भाव को दर्शाती कथा है 'चाईजी' की. जो कह उठती है 'नहीं जी, आया हूं मैं...चार साल से साथ हूं इनके.'

'औरत' कहानी में 'आलिशा' और 'सोनाली' दो लड़कियां, दो वर्गों की हैं. एक कुंवारी है, दूसरी ब्याहता. एक ही तरह का पलायन का रास्ता चुनती हैं. एक को घर नकार देता है जबकि दूसरी को फिर से इसरार करके बुला लिया जाता है. प्रथम स्थिति जानी पहचानी और मध्यमवर्गीय समाज की है. दूसरी स्थिति अति उच्च व अभिजात्यवर्ग की है जहां जीवन के मापदंड अलग होते हैं. फ्लोट आइसक्रीम का जो बिंब बनाया है वह 'अनुपम' है, मौलिक है. मगर जिस तरह होंट पोंछ कर मुंह साफ़ हो गया, परंतु आधुनिकता अपना कर भी मन उतना चिकना कहां बन पाया कि वह भी निष्पत्ति को बिना मन को छुये झेल सके. ... कार्य व्यवहार में यह वर्ग भले आधुनिकता को सीढ़ी बना ले ...लेकिन ऐसी सीढ़ियों पर चढ़ने में पांव रपटते तो हैं ही. यहां एक बात खटकती है कि दोनों नायिकाएं पूरी तरह मैच्योर हैं फिर भी दोनों ने साथी चुनने में भूलें कीं. इस तरह का धोखा अमूमन कच्ची उम्र में खाया जाता है. पहली का तो नहीं संभवतः दूसरी का चयन बहुतायत से अघाया, कुछ नया एडवेंचर करना चाहता है. साथी का साथ है तो सब कुछ है का भाव दर्शाती कहानी है 'टूटता मन'. एक जोड़ा भौतिक ज़रूरतों के नाम पर अलग हो जाता है. तो दूसरे को बीमारी तोड़ना चाहती है. मगर साथ रहने की चेष्टा हर संभव की जाती है. इस कहानी में प्राकृतिक बिंबों को माध्यम बना कर शिल्प और अंदाज़ को नये तरीके से गढ़ा गया है.

'तकदीरवाली' उस औरत की कथा है जिसे ताज़िंदगी गुलामी करके भी आफिशियली उन न कमाये पैसों पर हक नहीं मिलता जो पति के हैं और वह क्या चाहती है यह पति से नहीं कह पाती. क्योंकि वह बखूबी जानती है वैसा होगा नहीं.

'बड़े घर में दोनों साथ-साथ जायेंगे' नववधु से यह सुन कर जी उठी नंदिनी. नारी मन के उठापटक का मनोवैज्ञानिक तरीके से विश्लेषण करने वाली कथा है, 'वादा रहा'. और 'जंग अभी जारी है' विदेश गये डाक्टर बेटे के इंतज़ार में दिल का झटका खाये बेसुध पापा की जंग जारी है. दूसरी तरफ बहू की नज़रें कुछ और देख रही हैं.

'चिता' नारी की वही पुरातन सनातन कथा है. भले उसे देवराला में रूपकुंवर की तरह शोलों पर सुला दो या मिट्टी का तेल छिड़क घर में ही फूंक दो या फिर सहगामिनी का खिताब ओढ़ाते-ओढ़ाते काम से ही मार डालो. पर हर ज़गह अनदेखी चिता पर तो वह निपट अकेली जल ही रही है.

अंतिम कहानी 'हम ज़िंदा हैं' संग्रह की सशक्ततम कहानी है और बिल्कुल सामयिक है. एक तरफ़ गुजरात का भूकंप और दूसरी तरफ महाकुंभ का आयोजन. रामदेई कुंभ स्नान के लिए बेटे से कहती है. 'पैसे की फिक्र न करो तुम, अपने टिकट का जुगाड़ मैं कर लूंगी. लेकिन वहीं छोड़ गये बेटे-बहू उसे. 'महाकुंभ न हुआ अनाथालय हो गया' पुलिस वाले ने व्यंग्य से कहा था. और बेटा-बहू...उनकी निर्ममता की हद नहीं थी. बेसहारा छोड़ गये और ऊपर से भूकंप में ध्वस्त हुए घर के साथ मरी मां का मुआवज़ा वसूल करने भी उठ खड़े हुए. अंत में रामदेई की आवाज़ 'हम ज़िंदा हैं' सुन कर भौंचक्के रह गये.

उषा जी की कहानियों में संभावनाओं के अनेक संकेत निहित हैं. ज़रूरत है ऐसे केंद्र तलाशने की जो पात्रों की भौतिक उपस्थिति के बजाय विचार की तरह लगे. दरअसल इन कहानियों का न्यास तथा शिल्प संरचना आरोह-अवरोह के जटिल क्रम से मुक्त है इसलिए ये पाठकों को चौंकाती नहीं हैं.

कथासंग्रह की खूबी है कि एक बार हाथ में आने के पश्चात बिना पूरा पढ़े उसे छोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि पूरा कथासंसार उभरते संबंधों और घरेलू यथार्थों का सांगोपांग चित्रण दिखाई देता है.

डी ७, शिवप्रभा, सेक्टर-१, चारकोप,
कांदिवली (प.), मुंबई ४०० ०६७

ग्रामीण परिवेश की कहानियां

✍ डॉ. विजयानंद

मार्क्स का जूता (कहानी संग्रह): डॉ. अंजनी कुमार दुबे 'भावुक'
प्रकाशक - सरस्वती प्रकाशन, ७/२१९, आ. वि. मो.-३,
झूंसी, इलाहाबाद-२११०१९ मूल्य : १०० रु.

इस संग्रह में कुल दस कहानियां संकलित हैं, सभी कहानियों की अपनी अलग-अलग मौलिक पहचान देखी जा सकती है. 'भावुक जी' का जीवन परिवेश मूलतः आंचलिक रहा है. इसलिए कहानियों पर ग्रामीण परिवेश और भाषा का पूरा प्रभाव देखा जा सकता है. अपनी कहानियों के बारे में भावुक जी ने कोई दावा नहीं किया है किंतु दो टूक विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि, "इस संकलन की शीर्षक कहानी 'मार्क्स का जूता' कुछ वरिष्ठ जनवादी (कभी के नक्सली) मित्रों से हंसी मजाक के दौरान उपजे एक विचार के कारण लिखी गयी. 'कथाबिंब' (मार्च-९९, मुंबई) में प्रकाशित हुई और देश के कोने-कोने से जब लोगों की प्रशंसा और प्रतिक्रिया आने लगी, तब अभास हुआ कि किसी दैवी प्रेरणा ने अनजाने में ही कोई महत्वपूर्ण कार्य करवा दिया है. मेरा आधार पूरी तरह से गांव का रहा है, इसलिए ग्रामीण परिवेश से संबंधित कहानियां ही अधिक लिखी गयी हैं. 'बिल्ला-समेसर', 'बसों की पुकार', 'गजेड़ी मार किसके ?' 'पंडितजी', 'प्रधान जी', कहानियां पूरी तरह से गंवई की ऊबड़-खाबड़ माटी से ही विकसित हुई हैं. 'यौवन की जय हो', 'सुनो उर्मिला',

'प्रोफेसर की पत्नी', तथा 'पति से डरने वाली पत्नी' कहानियां सामाजिक परिवेश की विभिन्न स्थितियों से संबंधित कहानियां है.

संग्रह की पहली कहानी 'मार्क्स का जूता' मार्क्सवाद के भारत में जन्म से लेकर मृत्यु तक की सभी स्थितियों का वर्णन है. अगर कहा जाये कि इसके माध्यम से भावुक जी ने भारत के सत्तर साल का पूर्व इतिहास ही प्रतीकात्मक ढंग से लिख दिया है तो अतिशयोक्ती न होगी. मार्क्सवादियों पर अक्सर देशद्रोह और दोहरे मानदंड का आरोप लगता रहा है. उसी परिवेश में लिखी यह कहानी बताती है कि छद्म मानसिकता के सहारे समाज में अधिक दिनों तक ज़िंदा नहीं रहा जा सकता. जब समाज के सामने भेद खुलता है तो अस्तित्व संकट में पड़ जाता है. गांव के सीधे-सीधे दीनू पंडित की गरीबी ही नहीं दूर होती बल्कि वे संसद सदस्य बनकर कई फैक्ट्रियों के मालिक भी बन जाते हैं. परतु भारत की गरीबी अपनी ही जगह रहती है. अपने अंतिम समय में पार्टी कार्यकर्ताओं को संदेश देते हैं - 'भारत में जब तक मार्क्स का वह चमत्कारिक जूता संभाल कर रखा हेगा, तब तक हमारे वफ़ादार दोस्तों को अपनी गरीबी दूर करने की राह मिलती रहेगी.' - दीनू पंडित के इस संदेश के साथ ही कहानीकार का भी संदेश है कि -'आज अधिकांश लोग उस जूते से भयभीत हैं, कब उसका रूप (नक्सल) बदल जाये. इसे निश्चित ही इस दौर की श्रेष्ठ कहीनियों में से एक माना जा सकता है.

'बिल्ला-समेसर' इस संकतन की दूसरी कहानी है जो एक जन्मजात अंधी लड़की के अपने पति समेसर से मिलने वाले शारीरिक सुख की कल्पना तथा उसकी मृत्यु के बाद उसके शरीर की गंध का एहसास करके विलाप से संबंधित है. बिल्ला के लिए पति रूप में समेसर एक अतृप्त प्यास थी, जो मात्र उसके स्पर्श से ही मिटती थी. आंचलिक परिवेश की यह कहानी अंत तक पाठक को बांधे रखती है. तीसरी कहानी - 'यौवन की जय हो' प्रेम के शाश्वत सत्य को उजागर करती हुई, यह बताने का प्रयास करती है कि सौंदर्य स्वयं में एक बोध है, एक अनुभूति है, वह मात्र वासनात्मक शरीर नहीं है. तभी तो प्रेम की व्याख्या करता हुआ कहानी का नायक कहता है कि - 'राधा प्रेम का वह चरमोत्कर्ष तत्व है, जहां पहुंच कर आत्मा, परमात्मा बन जाती है. शरीर, शरीर नहीं रहता. प्रेम में राधा बनना हंसी खेल समझती हो क्या ?'

संकलन की चौथी कहानी 'बसों की पुकार' है जो आज गांवों से अखाड़ों तथा पहलवानों के निरंतर नष्ट होने की स्थिति का बारीकी से विश्लेषण करती है. आधुनिक सौंदर्य प्रसाधनों ने अखाड़ों की मिट्टी को उड़ती धूल बना दिया है जबकि एक समय था जब अखाड़े हर गांव की शान समझे जाते थे. बढ़ चढ़कर दंगल होते थे. गांव का एक ही पहलवान गांव की कीर्ति को चारों ओर फैला देता था. लेकिन आज स्थिति विपरीत है. नये लड़के पहलवान नहीं, फिल्मी हीरो बनना अधिक पसंद करने लगे हैं. नायक योगेंदर के माध्यम से इसे ही बताने की कोशिश की गयी है. यह पुरस्कृत कहानी है. पांचवीं कहानी 'गजेड़ी यार किसके ?' है जो गांवों के निठल्ले चिलमबाज गजेड़ियों की कहानी है, जो एक चीलम दम मारने के लिए प्रशंसा के पुल बांधते रहते हैं, किंतु काम निकलते ही पीछे मुड़ कर भी नहीं देखते. कहानी 'पंडित जी' इस संकलन की एक अन्य श्रेष्ठ कहानी है. यजमानी करके जीवन चलाने और पेट काटकर दोनों लड़कों को पढ़ाकर योग्य बनाने के बाद दोनों से मिले तिरस्कार की वेदना से संबंधित यह कहानी है. जो आज के बदलते गांवों की एक पहचान सी बनती जा रही है. अपने ही बच्चों से ऊबकर व्यक्ति मठ-मंदिर में जाना चाहता है. लेकिन जा नहीं पाता और सोचते-सोचते घुट-घुटकर मर जाता है. इसी तरह से ग्रामीण परिवेश के राजनीतिक दांव-पेंच से ही संबंधित कहानी 'प्रधानजी' भी है जो

'आज राजनीति के माध्यम से गांव-गांव ही नहीं बल्कि घर-घर बढ़ती कटुता को बड़े ही प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त करती है. चुनाव के समय के दांव-पेंच और ऊंच-नीच का समीकरण भी प्रकट हुआ है. तभी तो पूर्वप्रधान राजिंदर सिंह अपने प्रतिद्वंद्वी के बारे में कहते हैं - 'ससुरा रमललवा...अपने को कलट्टर समझ रहा है. आज तो उसकी बोली पर तबीयत बड़ी रंज हुई लेकिन कुछ सोच कर रह गये.'

संकलन की आठवीं कहानी 'सुनो उर्मिला' है. यह आधुनिक पढ़ी-लिखी औरत की स्वच्छंद विचरण की मनोवृत्ति से संबंधित कहानी है, जिसके लिए अपने सुख के अतिरिक्त कुछ भी महत्व नहीं रखता. तभी तो वह अपने पति महेंद्र से शर्त रखती है कि वे या तो अपनी मां के साथ रहें या हमारे साथ. महेंद्र मां को नहीं छोड़ता, उसे छोड़ देता है. फिर भी उर्मिला का अहं कम नहीं होता. महेंद्र को इसका दुख अंत तक सताता है कि - 'वह मां को पैसा दे पाया, बहू नहीं.' ऐसी ही एक नारी मानसिकता को लेकर लिखी गयी कहानी 'प्रोफेसर की पत्नी' भी है. निहायत ही स्वार्थी किस्म की मैडम हर बात को कुत्ते की तरह से कान खड़ी करके ही सुनती है. और सबको शक की निगाह से देखती है. ऐसी ही स्थिति में जब विभाग में प्रवक्ता का पद खाली होता है तो अपने ऊंचे पद की पकड़ के कारण इतना तिकड़म करती हैं कि योग्यता के अभाव में मैडम की नियुक्ति तो हो नहीं पाती है. विवाद में फंसकर किसी भी स्थानीय की भी नहीं हो पाती. किसी तीसरे की हो जाती है. इसे लेकर असली उम्मीदवार के मन में मैडम के प्रति घृणा का भाव है. वह अंत में कहता है. 'आज मैं संवादहीनता की स्थिति में जी रहा हूं. लोग मेरी कहानी को कहानी बनाकर कई तरह से सुना रहे हैं.' ...लेकिन अपनी ही कहानी सुनकर मैं मौन हूं. इस मौन का अर्थ भी शुभांगी मैडम की निगाह में एक गहरी साजिश है."

संकलन की अंतिम कहानी 'पति से डरने वाली पत्नी' है, जो एक व्यंग्य कहानी है. इसमें एक ऐसी नारी की कहानी है, जो पूरी तरह से अहं और बड़बोलेपन की शिकार है. नायिका मधु एक डॉक्टर की पत्नी है. स्वयं एम.ए. पास है. स्वतंत्र और मुक्त विचार रखती है, लेकिन बात-बात में यह कहना नहीं भूलती कि - 'मुझे अपने पति से बहुत डर लगता है.' लेकिन वास्तविकता यह है कि भयंकर शरीर वाली मधु से दुबले-पतले शरीर वाले डॉक्टर साहब स्वयं डरते थे. मधुजी नेताओं या संसद में अंग्रेजी सुनकर भड़क जातीं, सबको 'देशद्रोही' तक कह देती. लेकिन स्वयं अंग्रेजी से एम.ए करना चाहती थीं. बच्चों को हिंदी बोलने पर डांटती थी, यहां तक कि अंग्रेजी में ही गाली-गलौज करना अपना सम्मान समझती थीं. गांव की कम-पढ़ी-लिखी औरतों को समझाती हुई कहती -"यूरोप की औरतें कितनी आगे हैं. जानती हो वहां सब कुछ की छूट है. यहां तक कि औरतें भी मर्दों का छोड़ सकती हैं. कई विवाह कर सकती हैं. ऐसी ही मधु के आसपास आज कई प्रश्न हैं जिसका उत्तर सिर्फ मधु के पास है. और मधु से पूछने का साहस किसी के पास नहीं है."

कुल मिला कर अगर देखा जाये तो इस संकलन की सभी कहानियां अंत तक पाठक को बांधे रखती हैं, कहीं उबाती नहीं. इस दृष्टि से सहज संप्रेषणीयता इनकी महत्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है. आंचलिक परिवेश की कहानियां तो सीधे पाठकों को पूर्वी उत्तर-प्रदेश से जोड़ देती हैं. एक जीवंत तस्वीर आंखों के सामने उभर आती है. वैसे भी भावुक जी गाजीपुर (उ. प्र.) के रहने वाले हैं तो उसका पूरा प्रभाव भी उनकी कहानियों पर पड़ा है. विशिष्टता की दृष्टि से 'मार्क्स का जूता', 'बिल्ला समेसर', 'यौवन की जय हो' तथा 'पंडित जी' को इस संकलन की श्रेष्ठ कहानियां माना जा सकता है. वैसे अन्य कहानियां किस दृष्टि से कमजोर हैं. इसका निर्णय सहज नहीं है. सुंदर और साफ छपाई के साथ आकर्षक गेटअप भी प्रभावित करता है. भावुक जी की हिंदी साहित्य में आज एक पहचान है. हालांकि यह उनका पहला कहानी संग्रह है. आशा है और कई संकलन आयेंगे.

७/२१९, आवास विकास पो-३,
झूंसी, इलाहाबाद २११०१९ (उ. प्र.)

गीत

रामानुज त्रिपाठी

बहुत दिनों के बाद गोद में सागर की
शायद कोई लहर सिमट कर सोयी है.
बहुत दिनों के बाद तीर पर
बैठ धूप ने किया आचमन,
और छांव सूरज के रथ पर
चढ़ कर चली गयी नंदन-वन
सिर्फ़ बिछड़ कर एक टूटती खामोशी ने
असह वेदना की थाली संजोयी है.
बहुत दिनों के बाद पवन -
पुरवा ने चलते-चलते टोका,
किसी अपाहिज खुशबू को
कंधे पर लादे आया झोका
सांझ पकड़ कर चरण किसी सूनेपन का
सिसक-सिसक कर आज अनवरत रोयी है.
बहुत दिनों के बाद अभी भी
ज़िंदा हैं संजोये सपने,
आयेंगे आखिरी सांस तक
रचने नये घरौंदे अपने
अभी बची है आहट कुछ आते कल की
शेष अभी दुधमुही कल्पना कोई है.

निवास / पोस्ट-गरयें, सुलतानपुर २२७ ३०४

मनी ऑर्डर

(पृष्ठ २६ का शेष भाग)

अशोक ने चुपचाप लिफ़ाफ़ा खोला. उसमें एक चिट्ठी और नोटों की गड्डी थी. चिट्ठी खोलकर वह पढ़ने लगा. चिट्ठी में लिखा था -

'बेटा अशोक, तुम खूब बड़े हो गये यह जानकर खुशी हुई. लेकिन बेटा कितना भी बड़ा क्यों न हो, पिता के लिए तो छोटा ही होता है. विवाह के पश्चात तुम नागपुर चले गये तो फिर लौटे ही नहीं. तुम्हें और बच्चों को देखने की बड़ी तमन्ना थी. मैंने जब-जब चिट्ठी भेजी, तबीयत का कारण बताया तब तुमने मनीऑर्डर भेज दिया. तुम्हें लगता था कि मुझे रुपयों की ज़रूरत है. लेकिन यह तुम्हारा भ्रम था. स्वतंत्रता सेनानी होने के नाते मुझे पेन्शन मिलती थी. घर में कुछ अनाज भी आता था. मुझे तुम्हारे रुपये नहीं चाहिए थे. मैं बस तुम्हें और बच्चों को देखना चाहता था लेकिन तुम मनीऑर्डर भेजते रहे. यह सत्य है कि मैं तुम्हें फैक्टरी के पते पर पोस्टकार्ड भेजता था. इसका कारण यह था कि पोस्टकार्ड सस्ता होता है. दूसरे, तुम्हें घर में समय नहीं मिलता होगा इसलिए फैक्टरी के पते पर चिट्ठी भेजता था. लेकिन इससे भी तुम्हें गलतफ़हमी हुई. मुझे यहां डॉक्टर उपलब्ध होता था, दवाइयां मिलती थीं, इजेक्शन मिलते थे ! परंतु इससे बढ़कर संसार में एक महत्वपूर्ण चीज़ होती है - बच्चों का प्यार, उनसे लगाव एवं आत्मीयता. दवाइयों से शरीर की बीमारी दूर हो सकती है लेकिन मन की बीमारी दूर करने के लिए प्रेम अनिवार्य है. अशोक, मुझे उसी प्यार की भूख एवं प्यास थी. यह चिट्ठी मृत्यु के पहले लिख रहा हूं. चिट्ठी लिखने के पश्चात कितने दिन ज़िंदा रहूंगा, पता नहीं. इच्छा है तेरे हाथ से पानी की एक बूंद गले में उतरे. पता नहीं वह पूरी होगी या नहीं. वैसे तुम्हें भेजी चिट्ठी में यह सब लिखना चाहता था लेकिन डर गया कि कहीं तुम डाक द्वारा पानी की बोतल तो नहीं भेजोगे ! ख़ैर ! तुम्हारे भेजे हुए रुपये इस लिफ़ाफ़े में हैं. मैंने एक पैसा तक ख़र्च नहीं किया है. अपितु अपनी पेन्शन के कुछ रुपये इसमें मिलाये हैं. मेरी मृत्यु के पश्चात तो तुम्हें यह पता चले कि मुझे रुपये नहीं चाहिए थे. बस, इतनी ही इच्छा है. मुझे जो भुगतना पड़ा वह तुम्हारी मां के हिस्से में न आये. मैं बोल पाया, लिख सका, वह कुछ भी नहीं कर पायेगी. मुझे उसकी चिंता सता रही है. स्वतंत्रता आंदोलन की धुन सवार होने से ज़िंदगी में मैं उसे कभी भी सुख नहीं दे सका. उस बेचारी ने हम दोनों के लिए अत्यधिक कष्ट उठाये हैं. उसकी ओर ध्यान देना.

तुम्हारा बाबा.'

चिट्ठी पूरी होने पर अशोक बिलख-बिलखकर रोने लगा. वह तेजी से मां की ओर गया और उसे सीने से लगाया. 'मैं बहुत दुष्ट हूं', कहकर रोने लगा.

मां ने समझाते हुए उसे सीने से लगाया. मां के स्पर्श से उसे ऐसी अनुभूति हुई कि जैसे वह एक साल का बच्चा हो गया है.

दूसरे दिन सुबह अशोक जल्दी जाग गया. उसने मां से कहा, "मां, तुम मेरे साथ नागपुर चलो. वहीं रहना. अब तुम अकेली नहीं रहोगी."

मां ने कहा, "नहीं बेटा, पति का घर है. मैं यहीं रहूंगी. संभव हो तो तुम ही इधर आते रहना. मेरी कोई शिकायत नहीं है."

"मां, ऐसा मत कहो वरना मैं लड़खड़ा जाऊंगा. अब कुछ मत कहो. मैंने मूर्खता की है. मैं मात्र मनीऑर्डर भेजता रहा लेकिन रुपये के सिवा मनुष्य को आत्मीयता एवं स्नेह की ज़रूरत होती है यह न समझ सका. इसका मुझे पछतावा हो रहा है. मां, मैं दुष्ट हूं. मुझे माफ़ करो और मेरे साथ चलो." अशोक फूट-फूटकर रोते हुए बोल रहा था.

मां ने फिर एक बार उसे सीने से लगाया. आंचल से उसकी आंखें पोंछी. सिर पर प्यार से हाथ फेरती हुए बोली, "बेटा, गांव छोड़कर मैं नहीं आ सकती. यह घर एवं उनकी स्मृतियां मुझे वहां नहीं मिल पायेंगी. मुझे यहीं रहने दो. मैं कभी-कभार आया करूंगी. संभव हो तो तुम लोग कभी-कभार इधर आते रहना. गांव की मिट्टी एवं रिश्तों को छोड़ना मेरे लिए असंभव है."

अशोक विवश हो गया. उसे मां की दुनिया में ख़लल डालना अच्छा नहीं लगा. वह मायूस होकर नागपुर लौट आया. उसने प्रमिला को सब कुछ बताया. इस पर प्रमिला ने कहा, "देखो अशोक, अब मां अकेली है. समय पर मनीऑर्डर भेजना और चिट्ठी भी लिखते रहना."

अशोक ने आवेश से कहा, "नहीं प्रमिला, नहीं ! सिर्फ़ मनीऑर्डर से काम नहीं चलेगा. मनीऑर्डर से केवल रुपये मिलते हैं, आत्मीयता एवं रिश्ते नहीं. और उसे ये मिलें इसलिए मैं ही कभी-कभी गांव जाया करूंगा."

अशोक के विचार सुनकर प्रमिला उसे देखती ही रह गयी.

'चार्वाकाशय', पाटणी इस्टेट,
टी. बी. सैनेटोरियम रोड, म्हसरूळ, नाशिक-४२२ ००४.

अनुवादक : डॉ. गिरीश काशिद,
हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर-४१६ ००४

समय

✍ राजपाल यादव

समय -
अमूल्य धरोहर है
मानव जीवन की
शाश्वत सत्य के मानिंद
बलशाली एवं सर्वशक्तिमान है.

समय स्वतंत्र है
न किसी के अधीन है
न थमता है किसी के कहने से
रहता सदैव गतिशील है.

समय चश्मदीद गवाह है
बौने जनतंत्र और
वक़्त की बदरंग छायाओं का;
धर्म के नाम पर
दिन-प्रतिदिन हो रहीं
निर्मम हत्याओं का.

समय की डोर
नहीं होती है कभी कमजोर
आती रहें बेशक उसमें
नयी-नयी बाधाएं,
नये-नये मोड़.

समय की मार
है एक दुधारी तलवार,
जो बना देती है
चपरासी को मंत्री
और मंत्री को संतरी.

समय ने झेला है
हिरोशिमा-नागासाकी का
परमाणु विस्फोट,
तथा मानवाधिकारों पर हो रही
करारी चोट.

समय ने देखे हैं
सैंकड़ों झंझावात:
भारत-चीन युद्ध
और युद्ध भारत-पाक.

समय जल की वो धार है
जिसे न तो पकड़ा जा सकता है
न ही लौटाया जा सकता है;
वह तो वरन् -
अनवरत बहत रहता है.

समय ने झेले हैं
अनेक भूकंप
तूफान और महामारी का प्रकोप
और अभी तो बाकी हैं
देखने अनेकों
अद्‌भुत सुयोग-वियोग.

समय न बूढ़ा होता है
न मरता है
वरन् पल-पल
बढ़ता जाता है आगे,
और छोड़ जाता है पीछे
खट्टी-मीठी धुंधली यादें.

समय के विभिन्न आयामों को
देखते रहते हैं हम
ओझल होते हुए
अधखुली नंगी आंखों से;
बावजूद-
नहीं समझ पाते हैं
समय का मोल
तेजी से बदलता भूगोल.

✍ सी-१, न्यू डॉक्टर्स कॉलोनी,
जगजीवन नगर, धनबाद - ८२६ ००३

दीपक

✍ दीप प्रकाश

मैं सदा निज तेज से
जग का तिमिर हरता रहा.
किंतु क्या देखा किसी ने
हृदय में स्नेह भरकर
कामना ही वर्तिका को
भस्म बस करता रहा.
जग का तिमिर हरता रहा.
थक गया दिन भर भ्रमण से
भानु जब फेरी लगाकर.
सो रहा सागर बिछौने
खींच मुंह पर क्षितिज चादर.
अल्प सा आलोक ले मैं
लघु मिहिर बनता रहा.
जग का तिमिर हरता रहा.
भाग्य पर पुरुषार्थ की यह
विजय गाथा है पुरानी.
नियति की श्रम से पराजय
जगत ने हर बार मानी.
इस चिरंतन सत्य को
साक्षात फिर करता रहा.
जग का तिमिर हरता रहा.

✍ ६१, माउंट आबू,
अणुशक्तिनगर, मुंबई ४०० ०९४.

ग़ज़ल

✍ केशव शरण

कहां आख़िर ये रहना चाहता है,
मेरा दिल हर तरफ़ क्यों भागता है.
कहीं कोई नहीं पूछूं तो किससे,
ये किसके गांव जाता रास्ता है.
बिना उसके कहां की मौज-मस्ती,
मुझे मौसम सुहाना सालता है.
खिले हैं फूल बगिया में हज़ारों,
है तितली गुम तो खुश्बू लापता है.
मुझे याद आया करते रात-दिन वो,
बस इतना उनका मुझसे वास्ता है.

✍ एस २/५६४ सिकरौल, वाराणसी-२२१ ००२

हां, वह चांद !

हरे प्रकाश उपाध्याय

बचपन में
जब मुझे थोड़ी समझ आने लगी थी
मां ने मुझे, रात में
आकाश की तरफ़ देखकर
चांद के बारे में बताया था,
मेरे पारिवारिक रिश्तों के बाहर
किसी से वह मेरा पहला परिचय था
जब मैं रूठ जाता
किसी बात को लेकर,
मुंह फुलाता तो मां
चांद की कसम दे देती,
मेरे सबसे उदास क्षणों में तब
मां मुझे,
चांद पर कविता या लोरी सुनाती
मां मुझे,
चंदा मामा के गीत सुनाकर कुछ भी खिलाती.
दादी ने पिछले दिनों मुझे बताया
जब मैंने बोलना शुरू किया था
तब सबसे पहले - 'चांद मामा'
बोला था.
मित्रों, जाने-अनजाने चांद से मेरा
बचपन से रिश्ता है,
वैसे चांद हर बच्चों का फरिश्ता है.
अब जब कि मैं जवान हो गया हूं
कम से कम इतना समझदार भी
कि रात और दिन का फ़र्क जानने लगा हूं -
रात मुझे हमेशा डरावनी
और ख़ौफनाक लगती है
पर विश्वास मानिए-
रात के डरते क्षणों में
चांद का दिख जाना मुझे
बल देता है,
साहस देता है
तनहाई में भी शानदार ढंग से जीने का
सबक देता है और यह भी
कि कोई कभी अकेला नहीं होता.
चांदनी के द्वारा
अपना सूरज उगाने की
सलाह भेजता है चांद
कभी-कभी फसलों में दूध बनकर
धरती पर खुद आता है चांद,
मैं रात को सूरज गढ़ता हूं
सपने में रोशनी भरता हूं
और इसका सूत्र चांद से पढ़ता हूं
और रात की उचटती हुई नींद को तोड़कर
मैं देखता हूं
सुबह हो रही है -
उस सुबह में
सड़क पर निकलकर
आकाश में देखता हूं मैं
चांद के लिए
सूरज की किरणें
नम आंखों से विदाई दे रही हैं
कि उसे
दूसरी दुनिया में काम पर जाना है
मैं जानता हूं कि चांद
दूसरी दुनिया के लोगों को भी
मेरी तरह ख़त देने जा रहा है,
बल देने जा रहा है चांद.
वह रोज़ आता है,
रोज़ जाता है,
हर रोज़ नये संदेश
और ख़बर मेरे लिए लौटकर लाता है
आखिर कोई बात है ज़रूर
जिससे चांद हादसों से भरे समय में
पूरी यात्रा में कहीं लहूलुहान नहीं हो पाता है.

आर. एफ. -१६८, लोहियानगर,
कंकड़बाग, पटना ८०० ०२०

पहल

चाहत

डॉ. रिशू टंडन

ज़िंदगी तो है रफ़्तार, हर पल, जिसमें चाहता है मन
और पाने को है तैयार, वो सब जो है, खोल में बंद,
किस खेल में पलटती है बाजी, किसको है मालूम
रंजो गम में भी रहो राजी, मिल जाये कब सुकून,
जो कभी लगते थे अपने, बन जाते हैं बेगाने,
चले थे सूरज पाने, क्यों बादल लगे हैं, छाने
सैंकड़ों मिल चुके मगर, फिर भी भीड़ में हम अकेले,
मन भागता है, क्यूं दूर, बिखरे पड़े हैं यहां झमेले.

मेडिकल मिशन अस्पताल,
कोलेनचेरी, एर्नाकुलम ६८२ ३११

नयी सहस्त्राब्दी का सच

✍ श्रीरंग

इस नयी सभ्यता में
जो कि है सूचना-क्रांति का युग
सच बोलने की मनाही तो नहीं है कहीं
पर झूठ को ज्यादा दी जाती है तरजीह
अब ज्यादा फायदेमंद नज़र आता है झूठ
सच की बनिबस्त...
लोग
झूठ बोलते बोलते,
झूठ सुनते सुनते,
झूठी हंसी, झूठी दिल्लगी
और झूठी ज़िंदगी के इतने आदी हो चुके
हैं कि
यह सब झूठ ही सच लगता है...
लेकिन
कुछ माहिर हैं
जो निकाल लेते हैं झूठ के बीच से
छांट कर सच
और झेंप मिटाते हुए
बड़े-बड़े लोग
झूठी हंसी हंसने लग जाते हैं
पीठ थपथपाते हैं-
'चलो कोई तो है सच और झूठ की पहचान
करने वाला'...
वैसे इस नये समय में
सच की न तो किसी को ज़रूरत है
न किसी की मजबूरी,
खाने को तो अभी भी लोग
खाते हैं
सच बोलने की ही सौगंध
लेकिन झूठ बोलने के सिवा कुछ नहीं
बोलते...
और
यह 'झूठ' ही नयी सहस्त्राब्दी का
सबसे बड़ा 'सच' है...

१ द्रौपदी घाट, सी. डी. ए. पेन्शन,
इलाहाबाद २११०१४

ग़ज़ल

✍ कृष्ण सुकुमार

निरर्थक ज़िंदगी का सार्थक उन्वान कुछ तो हो,
मेरे जीने का मक़सद है मेरी पहचान कुछ तो हो.
मुझे वह यूं तो अपने ही बराबर का समझता है,
मगर हां, चाहता है फ़ासला दरमियान कुछ तो हो.
वह मेरी दोस्ती का लुत्फ़ कुछ ऐसे उठाता है,
उसे कुछ लाभ हो, ना हो, मुझे नुक़सान कुछ तो हो.
मेरा सपना है अपनी शर्त पर जीना या मर जाना
तेरी कोशिश है कि मुझ पर तेरा एहसान कुछ तो हो.
मुझे एहसास तो तब हो मेरे होने न होने का
तेरी नज़रों में नफ़रत या मेरा सम्मान कुछ तो हो.

१९४/१०, सोलानी कुंज,
आई. आई. टी. कैंपस, रुड़की २४७६६७

लघुकथा

आक्रोश

✍ संजय कुमार आर्य

वह बेहद सहमी सी थी. आज ही भोर में वह ट्रेन द्वारा अपने अब्बू-अम्मी के साथ शहर से दो सौ किलोमीटर दूर अपने मौसी के गांव आयी थी. उस पंद्रहवर्षीय शाहीन के चेहरे पर घबराहट अब भी मौजूद थी. हुआ यूं कि पिछले सप्ताह उसके शहर में एक संवेदनशील मसले पर कुछ बयानबाजी के बाद दो धर्मावलंबियों के बीच दंगा भड़क उठा. कुछ दंगाई उसके मुहल्ले में कल शाम आये और पड़ोस के ही एक व्यक्ति को छुरा घोंपकर मार डाला. शाहीन उस वक्त छत से कपड़े उतार रही थी. यह घटना उसके सामने ही हुई थी, तब से उसकी आंखों में दहशत पसर गयी है. दसवीं की उस छात्रा को सहसा अपनी पुस्तक में उल्लिखित कबीरदास की तरफ ध्यान गया. वह सोचने लगी कि क्या कबीर के छः सौ वर्षों बाद हम आज भी उसी युग में नहीं जी रहे हैं ? हिंदू को सनातनी होने पर और इस्लाम को अपनी श्रेष्ठता पर जो गर्व है, क्या यह खोखला नहीं है ? जब परस्पर मिलजुल कर साथ रहने की भावना हो, एक दूसरे के धर्म-मज़हब के लिए आदर न हो, सहिष्णुता न हो तब कोई धर्मावलंबी अपनी श्रेष्ठता का दावा कैसे कर सकता है ? सच्चा धार्मिक तो वही है जो प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य समझे और दंगाइयों-फसादियों को मनुष्यता का शत्रु. यह विचार आते-आते शाहीन के मन में संतोष तथा बाहरी दुनिया के प्रति आक्रोश पनपने लगा.

भा. जी. बीमा निगम,
घोसी, मऊ २७५ ३०४ (उ. प्र.)

'रेखा सक्सेना स्मृति पुरस्कार'

दो वर्ष पूर्व, अपनी कथाकारा पत्नी *रेखा सक्सेना* की बरसी पर उनकी स्मृति में श्री उमेश चंद्र सक्सेना (२०१/बी, 'पायल', आशा नगर, कांदिवली (पू.), मुंबई ४०० १०१) ने, हर साल, 'कथाबिंब' को ५००० रु. देने की पेशकश की थी. इस राशि का उपयोग पूरे वर्ष में प्रकाशित आठ कहानियों के रचनाकारों को पुरस्कृत करने में किया जा रहा है. जैसा आपको ज्ञात है श्रेष्ठता क्रम का निर्णय हमने पूरी तरह पाठकों पर छोड़ा है ताकि पाठक कहानी पढ़ने के साथ-साथ उसका मूल्यांकन भी करते चलें और साल के अंत में अपना निष्पक्ष निर्णय दें.

पाठकों के अभिमतों के आधार पर वर्ष २००२ के 'कथाबिंब' के अंकों में प्रकाशित कहानियों का श्रेष्ठता क्रम निम्नवत रहा. सभी पुरस्कार विजेताओं को बधाई !

प्रथम पुरस्कार (१००० रु.)

नया चेहरा - *राकेश कुमार सिंह*

द्वितीय पुरस्कार (७५० रु. प्रत्येक)

लखमी संग सत्तरह घंटे - *डॉ. सतीश दुबे* ● जूनी झूठ नहीं बोलती - *राजीव सिंह*

प्रोत्साहन पुरस्कार (५०० रु. प्रत्येक)

● त्रिभुज - *ए. असफल* ● लौटते हुए - *डॉ. उर्मिला शिरीष*

● दूसरा नरककुंड - *जयवंती डिमरी* ● अवसर - *डॉ. देवेंद्र सिंह*

● अपना-अपना नर्क - *संतोष श्रीवास्तव*

THE FOUR-WAY TEST

Of the Things we think, say or do

1. Is it the TRUTH ?
2. Is it FAIR to all concerned ?
3. Will it build GOODWILL and BETTER FRIENDSHIP ?
4. Will it be BENEFICIAL to all concerned ?

With Best Compliments from

NIVEK AGENCIES

103/104, Acharya Commercial Centre, Near Basant Cinema,
Dr. C. Gidwani Road, Chembur, Mumbai - 400 074.
Tel. : 2550 3270 & 2551 5523 Fax : 2556 6789

हमकदम लघु-पत्रिकाएं

(प्रस्तुत सूची में यदि कोई त्रुटि रह गयी हो या किसी पत्रिका का प्रकाशन बंद हो गया हो तो कृपया सूचित करें।)

बराबर (पा.) - ए. पी. अकेला, ५ यतीश बिजनेस सेंटर, इर्ला सोसायटी रोड, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६
कथादेश (मा.) - हरिनारायण, सहयात्रा प्रकाशन प्रा. लि., १००१ इंद्रप्रकाश बिल्डिंग, २१ बाराखंभा रोड, नयी दिल्ली - ११०००१
दाल-रोटी (मा.) - अक्षय जैन, १३ रश्मन अपार्टमेंट, एस. एल. रोड, मुलुंड (प.), मुंबई - ४०० ०८०
मधुमति (मा.) - वेदव्यास, राजस्थान साहित्य अकादमी, हिरन मगरी, सेक्टर-४, उदयपुर ३१३ ००२
वागर्थ (मा.) - विजय दास, भारतीय भाषा परिषद, ३६-ए, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता - ७०० ०१७
समाज प्रवाह (मा.) - मधुश्री काबरा, गणेश बाग, जवाहर लाल नेहरू रोड, मुलुंड (प.), मुंबई ४०० ०८०
साहित्य अमृत (मा.) - विद्यानिवास मिश्र, ४/१९ आसफ अली मार्ग, नयी दिल्ली - ११० ००२
साहित्य क्रांति (मा.) - अनिरुद्ध सिंह सेंगर 'आकाश,' भार्गव कॉलोनी, गुना ४७३ ००१ (म. प्र.)
शुभ तारिका (मा.) - उर्मि कृष्ण, ए-४७ शास्त्री कॉलोनी, अंबाला छावनी - १३३ ००१
शिवम् (मा.) - विनोद तिवारी, जय राजेश, ए-४६२, सेक्टर-ए, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०३९
अरावली उद्घोष (त्रै.) - बी. पी. वर्मा 'पथिक', ४४८ टीचर्स कॉलोनी, अंबामाता स्कीम, उदयपुर ३१३ ००४
अपूर्व जनगाथा (त्रै.) - डॉ. किरन चंद्र शर्मा, डी-७६६, जनकल्याण मार्ग, भजनपुरा, दिल्ली - ११० ०५३
अभिनव प्रसंगवश (त्रै.) - डॉ. वेदप्रकाश अभिताभ, डी-१३१ रमेश विहार, निकट ज्ञान सरोवर, अलीगढ़ (उ. प्र.)
असुविधा (त्रै.) - रामनाथ शिवेंद्र, ग्राम-खड्ड़ई, पो. पन्नूगंज, सोनभद्र - २३१ २१३ (उ. प्र.)
अक्षरा (त्रै.) - विजय कुमार देव, मं. प्र. रा. समिति, हिंदी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल - ४६२ ००२
आकंठ (त्रै.) - हरिशंकर अग्रवाल / अरुण तिवारी, महाराणा प्रताप वार्ड, पिपरिया ४६१ ७७५ (म. प्र.)
अंचल भारती (त्रै.) - डॉ. जयनाथ मणि त्रिपाठी, अंचल भारती प्रिंटिंग प्रेस, रा. औ. आस्थान, गोरखपुर मार्ग, देवरिया - २७४ ००१
अंतरंग (त्रै.) - प्रदीप बिहारी, चतुरंग प्रकाशन, मेनकायन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५१ १३४
अंतरंग संगिनी (त्रै.) - दिव्या जैन, गोविंद निवास, सरोजिनी रोड, विलेपार्ले (प.), मुंबई - ४०० ०५६
कंचन लता (त्रै.) - भरत मिश्र 'प्राची', डी-८, सेक्टर-३ए, खेतड़ी नगर - ३३३ ५०४
कृति ओर (त्रै.) - विजेंद्र, सी-१३३, वैशाली नगर, जयपुर - ३०२ ०२१
कथन (त्रै.) - रमेश उपाध्याय, १०७, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-३, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली - ११० ०६३
कथा समवेत (त्रै.) - शोभनाथ शुक्ल, कल्लूमल मंदिर, सब्जी मंडी, चौक, सुल्तानपुर २२८ ००१
कारवां (त्रै.) - कपिलेश भोज, पो. सोमेश्वर, अल्मोड़ा - २६३ ६३७
कल के लिए (त्रै.) - डॉ. जयनारायण, 'अनुभूति', प्लानिंग कॉलोनी, अलीगढ़ (उ. प्र.)
कहानीकार (त्रै.) - कमल गुप्त, के ३०/३६ अरविंद कुटीर, वाराणसी २२१ ००१
गुंजन (त्रै.) - मोहन सिंह रावत, रोहिला लॉज परिसर, तल्लीताल, नैनीताल - २६३ ००२
तटस्थ (त्रै.) - डॉ. कृष्ण बिहारी सहल, विवेकानंद विला, पुलिस लाइन्स के पीछे सीकर - ३३२ ००१
तेवर (त्रै.) - कमलनयन पांडेय, १५८७/४, उदय प्रताप कॉलोनी, बढ़ैयावीर, सिविल लाइन्स, सुलतानपुर - २२८ ००१
दस्तक (त्रै.) - राघव आलोक, "साराजहां", मकदमपुर, जमशेदपुर - ८३१ ००२
दीर्घाबोध (त्रै.) - कमल सदाना, अस्पताल चौक, ईसागढ़ रोड, अशोक नगर ४७३ ३३१ (म. प्र.)
दीर्घा (त्रै.) - डॉ. विनय, २५ बैंग्लो रोड, कमला नगर, दिल्ली ११० ००७
द्वीप लहरी (त्रै.) - डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी, हिंदी साहित्य कला परिषद, पोर्ट ब्लेयर ७४४ १०१
डांडी-कांटी (त्रै.) - मधुसिंह बिष्ट, भगवान नगर, नलपाड़ा, सैंडोज बाग, कापुर बावड़ी, ठाणे ४०० ६०७
निमित्त (त्रै.) - श्याम सुंदर निगम, १४१५, 'पूर्णिमा', रतनलाल नगर, कानपुर २०८ ०२२
निष्कर्ष (त्रै.) - गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, ५९ खैराबाद, दरियापुर रोड, सुलतानपुर - २२८ ००१
परिधि के बाहर (त्रै.) - नरेंद्र प्रसाद 'नवीन,' पीयूष प्रकाशन, महेंद्रू, पटना - ८०० ००६
पश्यंती (त्रै.) - प्रणव कुमार बंद्योपाध्याय, बी-१/१०४ जनकपुरी, नयी दिल्ली - ११० ०५८
प्रगतिशील आकल्प (त्रै.) - डॉ. शोभनाथ यादव, पंकज क्लासेज, पोस्ट ऑफिस बिल्डिंग, जोगेश्वरी (पू.), मुंबई ४०० ०६०
प्रयास (त्रै.) - शंकर प्रसाद करगेती, 'संवेदना', एफ-२३, नयी कॉलोनी, कासिमपुर, अलीगढ़ - २०२ १२७
प्रेरणा (त्रै.) - अरुण तिवारी, सी-१६०, शाहपुरा, भोपाल - ४६२ ०१६
पुरुष (त्रै.) - विजयकांत, निराला नगर, गोशाला रोड, मुजफ्फरपुर ८४२ ००२ (बिहार)
पुरवाई (त्रै.) - पद्मेश गुप्त, (भारतीय संपर्क : ऋचा प्रकाशन, डी-३६ साउथ एक्सटेंशन, पार्ट-१, नयी दिल्ली ११० ०४९
भाषा सेतु (त्रै.) - डॉ. अंबाशंकर नागर, हिंदी साहित्य परिषद, २ अमर आलोक अपार्टमेंट, बालवाटिका, मणिनगर, अहमदाबाद - ३८० ००८
मसि कागद (त्रै.) - डॉ. श्याम सखा 'श्याम,' १२ विकास नगर, रोहतक १२४ ००१
मुहिम (त्रै.) - बच्चा यादव / रणविजय सिंह सत्यकेतु, रचनाकार प्रकाशन, गुरुद्वारा मार्ग, पूर्णिया - ८५४ ३०१
युग साहित्य मानस (त्रै.) - सी. जय शंकर बाबू, १८/७७५/एफ/८-ए, तिलक नगर, गुंतकल - ५१५ ८०१ (आं. प्र.)

युगीन काव्या (त्रै.) - हस्तीमल 'हस्ती,' २८ कालिका निवास, नेहरू रोड, सांताक्रुज, मुंबई - ४०० ०५५
वर्तमान जनगाथा (त्रै.) - बलराम अग्रवाल, डी-२२ शांतिपथ, पत्रकार कॉलोनी, तिलक नगर, जयपुर - ३०२ ००४
वर्तमान संदर्भ (त्रै.) - संगीता आनंद, टैगोर हिल रोड, मोराबादी, रांची ८३४ ००८
विषय वस्तु (त्रै.) - धर्मेंद्र गुप्त, २७४ राजधानी एन्क्लेव, रोड नं. ४४, शकूर बस्ती, दिल्ली - ११० ०३४
संबोधन (त्रै.) - कमर मेवाड़ी, चांदपोल, कांकरोली - ३१३ ३२४
समकालीन सृजन (त्रै.) - शंभुनाथ, २० बालमुकुंद मक्कर रोड, कलकत्ता - ७०० ००७
साखी (त्रै.) - केदारनाथ सिंह, प्रेमचंद साहित्य संस्थान, प्रेमचंद पार्क, बेतिया हाता, गोरखपुर - २७३ ००१
सदभावना दर्पण (त्रै.) - गिरीश पंकज, जी-५० नया पंचशील नगर, रायपुर - ४९२ ००१
सार्थक (त्रै.) - मधुकर गौड़, १/ए/३०३ ब्ल्यू ओसन, ब्ल्यू एंपायर कॉम्पलेक्स, महावीर नगर, कांदिवली (प.), मुंबई - ४०० ०६७
संयोग साहित्य (त्रै.) - मुरलीधर पांडेय, २०४/'ए' चिंतामणि अपार्टमेंट, आर.एन.पी. पार्क, काशी विश्वनाथ नगर, भयंदर, मुंबई - ४०११०५
सही समझ (त्रै.) - डॉ. सोहन शर्मा, ई-५०३, गोकुल रेजीडेंसी दत्तानी पार्क, वेस्टर्न एक्सप्रेस हाइवे, कांदिवली (पू.), मुंबई - ४०० १०१
स्वातिपथ (त्रै.) - कृष्ण 'मनु', साहित्यांजन, बी-३/३५, बालुडीह, मुनीडीह, धनबाद - ८२८ १२९
शब्द संसार (त्रै.) - संजय सिन्हा, पो. बॉक्स नं. १६४, आसनसोल ७१३३०१
शुरुआत (त्रै.) - वीरेंद्र कुमार श्रीवास्तव, ३० आकाश गंगा परिसर, पुरानी बस्ती, मनेंद्रगढ़
शेष (त्रै.) - हसन जमाल, पन्ना निवास के पास, लोहार पुरा, जोधपुर - ३४२ ००२
हिंदुस्तानी ज़बान (त्रै.) - डॉ. सुशीला गुप्ता, महात्मा गांधी बिल्डिंग, ७ नेताजी सुभाष रोड, मुंबई - ४०० ००२
देवदीप (वा.) - डॉ. कपिल पांडेय, ३६/२५११ अभ्युदय नगर, परेल टैंक रोड, मुंबई - ४०० ०३३
अविरल मंथन (अ.) - राजेंद्र वर्मा, ३/२९ विकास नगर, लखनऊ - २२६ ०२०
कला (अ.) - कलाधर, नया टोला, लाइन बाजार, पूर्णियां - ८५४ ३०१
पुनः (अ.) - कृष्णानंद कृष्ण, दक्षिणी अशोक नगर, पथ सं-८बी, कंकड़ बाग, पटना - ८०० ०२०
सरोकार (अ.) - सदानंद सुमन, रानीगंज, मेरीगंज, अररिया - ८५४ ३३४
समीचीन (अ.) - डॉ. देवेश ठाकुर, बी-२३ हिमाचल सोसायटी, असल्फा, घाटकोपर (पू.), मुंबई ४०० ०८४
सम्यक (अ.) - मदन मोहन उपेंद्र, ए-१० शांतिनगर (संजय नगर), मथुरा २८१ ००१

'कथाबिंब' यहां भी उपलब्ध है :

- ※ **पीपुल्स बुक हाउस**, मेहर हाउस, १५ कावसजी पटेल स्ट्रीट, मुंबई - ४०० ००१. फोन : २२८७ ३७३८
- ※ **व्यवस्थापक बुक कॉर्नर**, श्रीराम सेंटर, सफ़दर हाशमी मार्ग, नयी दिल्ली ११० ००१.
- ※ **डॉ. देवकीनंदन**, ए-१/३०४, हृषीकेश, स्वामी समर्थ नगर, लोखंडवाला कॉम्पलेक्स, अंधेरी (प.), मुंबई - ४०००५३. फोन : २६३२ ०४२५
- ※ **श्री वीरेंद्र सिंह चंदेल**, १/१२१ सिविल लाइन्स, जजेस कॉलोनी के पास, फतेहगढ़ - २०९६०१
- ※ **श्री रविशंकर खरे**, हरिहर निवास, माधोपुर, गोरखपुर - २७३००१.
- ※ **श्री राजेंद्र आहुति**, ए १३/६८, भगतपुरी, वाराणसी-२२१००१.
- ※ **स ब द**, १७१ कर्नलगंज, स्वराज भवन के सामने, इलाहाबाद - २११००२.
- ※ **डॉ. गिरीश चंद श्रीवास्तव**, ५९ खैराबाद, दरियापुर रोड, सुलतानपुर-२२८००१. फोन : २३२८५
- ※ **श्री अनिल अग्रवाल**, परिवेश लघु पत्रिका मंडप, पुराना गंज, रामपुर-२४४९०१. फोन : २३२७३६१
- ※ **श्री योगेंद्र दवे**, ब्रम्हपुरी, पीपलिया, जोधपुर-३४२००१
- ※ **श्री राही सहयोग संस्थान**, शकुंतला भवन, बालाजी के मंदिर के पास, वनस्थली-३०४ ०२२ (राज.). फोन : २८३६७
- ※ **श्री भुवनेश कुमार**, सं : कविता, २२० सेक्टर-१६, फरीदाबाद - १२१००२
- ※ **श्री गोविंद अक्षय**, अक्षय फीचर सर्विसेस, १३-६-४११/२, रामसिंहपुरा, कारवान, हैदराबाद - ५०००६७.
- ※ **श्री नूर मुहम्मद 'नूर'**, सी. सी. एम. क्लैम्स लॉ, दक्षिण पूर्व रेल्वे, ३, कोयला घाट स्ट्रीट, कोलकाता - ७००००१
- ※ **श्री देवेंद्र सिंह**, देवगिरी, आदमपुर घाट मोड़, भागलपुर - ८१२००१.
- ※ **व्यवस्थापक**, सर्वोदय बुक स्टाल, रेल्वे स्टेशन, भागलपुर - ८१२००१.
- ※ **श्री कलाधर**, आदर्श नगर, नया टोला, पूर्णियां - ८५४३०१.
- ※ **मेसर्स लाल मणि साह**, आर.एन.साव. चौक, पूर्णिया - ८५४३०१.
- ※ **श्री महेंद्र नारायण पंकज**, राजकीय प्राथमिक विद्यालय, पैकपार, मेरीगंज, अररिया - ८५४३३४.
- ※ **श्री बसंत कुमार**, दीर्घतपा, वार्ड-६, अररिया - ८५४३३४.
- ※ **सुश्री मेनका मल्लिक**, चतुरंग प्रकाशन, न्यू कॉलोनी, उलाव, बेगूसराय - ८५११३४
- ※ **श्री रणजीत बिहारी**, पत्रिका मंडप, पंचवटी, चीरागोड़ा, धनबाद - ८२६००१.
- ※ **श्री देवेंद्र होलकर**, १८८ सुदामा नगर, अन्नपूर्णा सेक्टर, इंदौर - ४५२००९. फोन : २४८४ ४५२
- ※ **श्री मिथिलेश 'आदित्य'**, पोस्ट बॉक्स-१, मेनरोड, जोगबनी - ८५४३२८
- ※ **श्री संजय सिन्हा**, 'सिन्हा सदन', भगतपाड़ा, उषाग्राम, आसनसोल-७१३३०३. फोन : (०३४१) २२१३१३७

कुछ कही, कुछ अनकही

(... पृष्ठ ४ से आगे)

भारत-पाक रिश्ते मधुर हों इसके लिए प्रधानमंत्री की पहल पर नये सिरे से पुनः कोशिशें प्रारंभ हुई हैं. ११ जुलाई को, पहली बस से भारत आने वाले यात्रियों में ढाई साल की बच्ची नूर फातिमा भी अपने माता-पिता के साथ हृदय का ऑपरेशन कराने हिंदुस्तान आयी. इसके विरोध में कुछ दबे-छिपे स्वर ज़रूर उभरे लेकिन इलेक्ट्रॉनिक मीडिया व समाचार पत्रों ने उस घटना को एक शुभ संकेत के रूप में पेश किया. बैंगलौर के नारायण हृदयालय अस्पताल में इस तरह के ऑपरेशन पहले भी होते रहे हैं लेकिन नूर के ऑपरेशन की कोई फीस नहीं ली गयी. नूर के पिता नदीम सज्जाद ने ५०,००० रु. के अनुदान से एक ट्रस्ट बनायी है जो इसी तरह के हृदय विकारों से ग्रसित पाकिस्तानी बच्चों के इलाज़ का खर्चा उठायेगी. इस 'दोस्ती ट्रस्ट' में रोटरी क्लब के दो सदस्यों ने ५०-५० हज़ार रु. और जमा किये हैं. भारत सरकार ने भी घोषणा की है कि वह २० पाकिस्तानी बच्चों का इलाज़ भारत में कराने के लिए सभी सुविधाएं मुहैय्या करायेगी. लौटते समय दिल्ली के नागरिकों ने नूर को भावभीनी विदाई दी. लोगों द्वारा दिये सभी तोहफ़ों को साथ ले जाना संभव नहीं था. भारत-पाक मैत्री का नूर से बढ़कर प्रतीक हो ही नहीं सकता. काश यह नूर उन लोगों को भी दिखे जो दहशतगर्दी को तरज़ीह देने में जी जान से जुटे हुए हैं.

'कथाबिंब' में वर्ष २००२ में प्रकाशित कहानियों पर पाठकों के अभिमतों के आधार पर इस अंक में 'रेखा सक्सेना स्मृति' पुरस्कारों का निर्णय प्रकाशित किया जा रहा है. सभी विजेताओं को बधाई !

अरविंद

: प्राप्ति - स्वीकार :

आखर चौरासी (उपन्यास) : कमल, नवचेतन प्रकाशन, जी-५, गली नं. १६, राजापुरी, उत्तम नगर, दिल्ली-११००५९, मू. : १६० रु.
कोई ज़गह नहीं (उपन्यास) : सदाशिव कौतुक, साहित्य संगम, 'श्रमफल', १५२० सुदामा नगर, इंदौर ४५२००९. मू. : १२० रु.
अपना-अपना आकाश (उपन्यास) : महावीर रवांल्टा, पराग प्रकाशन, लिट्रेसी हाउस, आई-२/१६, मेन अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली - ११०००२. मू. : १२० रु.
कामदेव (उपन्यास) : किरन सिंह, हाजी अली पब्लिकेशन, फ्लैट नं. १६, प्लॉट नं. ६, बि.नं. १६-ए, जनरल ए. के. वैद्य मार्ग, गोरेगांव (पू.) मुंबई - ४०००६३ मू. : ६४ रु.

मुसाफिर खाना (क.सं.) : नरेंद्र कौर छाबड़ा, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली ११०००२ मू. : १०० रु.
आठवीं लड़की का जन्म (क.सं.) : कनकलता, अनामिका प्रकाशन, १८५ नया बैरहना, इलाहाबाद २११००३. मू. : १५० रु.
महुआ के वृक्ष (क.सं.) : गोवर्धन यादव, सतलुज प्रकाशन, एस.सी.एफ., २६७, दूसरा तल, सेक्टर-१६, पंचकूला. मू. : १५० रु.
एक युद्ध का अंत (क.सं.) : रमेश मनोहरा, मांडवी प्रकाशन, आर-१०, एफ/५९, राजनगर, गाजियाबाद (उ. प्र.). मू. : १०० रु.
दुशाले में जूते (क.सं.) : चंद्रशेखर दुबे, दिशा प्रकाशन, १३८/१६ त्रिनगर, दिल्ली ११००३५. मू. : १२० रु.
दीवार में उगा बरगद (क.सं.) : राजेंद्र शर्मा, अविचल प्रकाशन, ३/II, हाइडिल कॉलोनी, बिजनौर - २४६७०१ (उ. प्र.) मू. : ३० रु.
टुकड़ा टुकड़ा यथार्थ (क.सं.) : महावीर रवांल्टा, लिट्रेसी हाउस, आई-२/१६, मेन अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली - ११०००२. मू. : १७५ रु.

अभिमन्यु की जीत (लघुकथा) : राजेंद्र बर्मा, आशा प्रकाशन, ३/२९, विकास नगर, लखनऊ २२६०२२. मू. : ३० रु.

ज़मीन जितना (कविता) : सुरेंद्र रघुवंशी, अनुभव प्रकाशन, बी-७३ सूरजमल विहार, दिल्ली - ११००९२. मू. : १०० रु.
सीढ़ी पर बैठी औरत (कविता सं.) : किरण बाडीकर, पारुल प्रकाशन, ८८९/५८, त्रिनगर, दिल्ली ११००३५ मू. : ९० रु.
आंगन भर आकाश (कविता) : मधु प्रसाद, श्री प्रकाशन, ३२ सरकार लेन, कोलकाता ७००००७. मू. : ५०/१०० रु.
कविता'०१ (कविता) : सं. देवेंद्र सिंह / चंद्रेश, कविता भागलपुर, 'देवगिरी', आदमपुर घाट मोड़, भागलपुर ८१२००१. मू. : ५० रु.
कुछ गीत और (गीत सं.) : हरिश्चंद्र, पूर्णिमा प्रकाशन, २०४ पार्वती, सनमिल कंपाउंड, लोअर परेल, मुं. ४०००१३. मू. : १०० रु.
जरा और कविता (क.सं.) : राकेश वत्स, सन्मार्ग प्रकाशन, १६-यू.बी. बैंग्लो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११०००७. मू. : १०० रु.
पास तुम्हारे (क.सं.) : कुंदन कुमार, मीनाक्षी प्रकाशन, एम.बी. ३२/२ बी, गली नं. २, शंकरपुर, दिल्ली - ११००९२. मू. : ६० रु.
घायल प्रजातंत्र (क.सं.) : रमेश मनोहरा, मांडवी प्रकाशन, आर-१०, एफ/५९, राजनगर, गाजियाबाद (उ. प्र.). मू. : ५० रु.
पत्तियां करतीं स्नान (क.सं.) : मानिक बच्छावत, समकालीन सृजन, २०, बाल मुकुंद मक्कर रोड, कोलकाता ७००००७. मू. : १०० रु.

हमारे आजीवन सदस्य

प्रारंभ से लेकर अब तक 'कथाबिंब' ने काफी उतार-चढ़ाव देखे हैं. इस दौरान जिन व्यक्तियों या संस्थाओं से हमें सहयोग मिला हम उन सभी के आभारी हैं. 'कथाबिंब' का देश में, एक व्यापक पाठक वर्ग बन गया है. हमारी इच्छा है कि 'कथाबिंब' और अधिक लोगों द्वारा पढ़ी जाये.

*आजीवन सदस्यों के हम विशेष आभारी हैं. जिनके सहयोग ने हमें ठोस आधार दिया है. सभी आजीवन सदस्यों से निवेदन है कि वे एक या दो या अधिक लोगों को आजीवन सदस्यता स्वीकारने के लिए प्रेरित करें. संभव हो तो अपने संपर्क के माध्यम से विज्ञापन भी उपलब्ध करायें. **यदि विज्ञापन दिलवा पाना संभव है तो कृपया हमें लिखें.*** **- संपादक**

१) श्री अरुण सक्सेना, नवी मुंबई
२) डॉ. आनंद अस्थाना, हरदोई
३) स्वामी विवेकानंद हाई स्कूल, कुर्ला, मुंबई
४) डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, मुंबई
५) डॉ. वेणुगोपाल, मुंबई
६) डॉ. नागेश करंजीकर, मुंबई
७) डॉ. प्रेम प्रकाश खन्ना, मुंबई
८) श्री हरभजन सिंह दुआ, नवी मुंबई
९) डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी, मुंबई
१०) श्री उमेशचंद्र भारतीय, मुंबई
११) श्री अमर ठकुर, मुंबई
१२) श्री बी. एम. यादव, मुंबई
१३) श्री संतोष कुमार अवस्थी, बड़ौदा
१४) सुश्री शशि मिश्रा, मुंबई
१५) श्री भगीरथ शुक्ल, बोईसर
१६) श्री कन्हैया लाल सराफ, मुंबई
१७) श्री अशोक आंद्रे, पंचमढ़ी
१८) श्री कमलेश भट्ट 'कमल', मथुरा
१९) श्री राजनारायण बोहरे, दतिया
२०) श्री कुशेश्वर, कलकत्ता
२१) सुश्री कनकलता, धनबाद
२२) श्री भूपेंद्र शेठ 'नीलम', जामनगर
२३) श्री संतोष कुमार शुक्ल, शाहजहांपुर
२४) प्रो. शाहिद अब्बास अब्बासी, पांडिचेरी
२५) सुश्री रिफ़अत शाहीन, गोरखपुर
२६) श्रीमती संध्या मल्होत्रा, अनपरा, सोनभद्र
२७) डॉ. वीरेंद्र कुमार दुबे, चौरई
२८) श्री कुमार नरेंद्र, दिल्ली
२९) श्री मुकेश शर्मा, गुड़गांव
३०) डॉ. देवेंद्र कुमार गौतम, सतना
३१) श्री सत्यप्रकाश, मुंबई
३२) डॉ. नरेश चंद्र मिश्र, मुंबई
३३) डॉ. लक्ष्मण सिंह विष्ट, 'बटरोही,' नैनीताल
३४) श्री एल. एम. पंत, मुंबई
३५) श्री हरिशंकर उपाध्याय, मुंबई
३६) श्री देवेंद्र शर्मा, मुंबई
३७) श्रीमती राजेंद्र कौर, नवी मुंबई
३८) डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला, नवी मुंबई
३९) श्री नवनीत ठक्कर, अहमदाबाद
४०) श्री दिनेश पाठक 'शशि', मथुरा
४१) श्री प्रकाश चंद्र श्रीवास्तव, वाराणसी
४२) डॉ. हरिमोहन बुधौलिया, उज्जैन
४३) श्री जसवंत सिंह विरदी, जालंधर
४४) प्रधानाध्यापक, 'ब्लू बेल' स्कूल, फतेहगढ़
४५) डॉ. कमल चोपड़ा, दिल्ली
४६) श्री आर. एन. पांडे, मुंबई
४७) डॉ. सुमित्रा अग्रवाल, मुंबई
४८) श्रीमती विनीता चौहान, नवी मुंबई
४९) श्री सदाशिव 'कौतुक', इंदौर
५०) श्रीमती निर्मला डोसी, मुंबई
५१) श्रीमती नरेंद्र कौर छाबड़ा, औरंगाबाद
५२) श्री दीप प्रकाश, मुंबई
५३) श्रीमती मंजु गोयल, नवी मुंबई
५४) श्रीमती सुधा सक्सेना, नवी मुंबई
५५) श्रीमती अनीता अग्रवाल, धौलपुर
५६) श्रीमती संगीता आनंद, रांची
५७) श्री मनोहर लाल टाली, मुंबई
५८) श्री एन. एम. सिंघानिया, मुंबई
५९) श्री ओ. पी. कानूनगो, मुंबई
६०) डॉ. ज. वी. यख्मी, मुंबई
६१) डॉ. अजय शर्मा, जालंधर
६२) श्री राजेंद्र प्रसाद 'मधुबनी', मधुबनी
६३) श्री ललित मेहता 'जालौरी,' कोयंबटूर
६४) श्री अमर स्नेह, नवी मुंबई
६५) श्रीमती मीना सतीश दुबे, इंदौर
६६) श्रीमती आभा पूर्वे, भागलपुर
६७) श्रीमती आभा गोस्वामी, मुंबई
६८) श्रीमती राजेश्वरी विनोद, नवी मुंबई
६९) श्रीमती संतोष गुप्ता, नवी मुंबई
७०) श्री विशंभर दयाल तिवारी, मुंबई
७१) श्री अभिषेक शर्मा, नवी मुंबई
७२) श्री ए. बी. सिंह, निंबोहड़ा, चितौड़गढ़
७३) श्री योगेंद्र सिंह भदौरिया, मुंबई
७४) श्री विपुल सेन 'लखनवी' मुंबई
७५) श्रीमती आशा तिवारी, मुंबई
७६) श्री गुप्त राधे प्रयागी, इलाहाबाद
७७) श्री महावीर रवांल्टा, बुलंदशहर
७८) श्री रमेश चंद्र श्रीवास्तव, फतेहगढ़
७९) डॉ. रमाकांत रस्तोगी, मुंबई
८०) श्री महीपाल भूरिया, मेघनगर

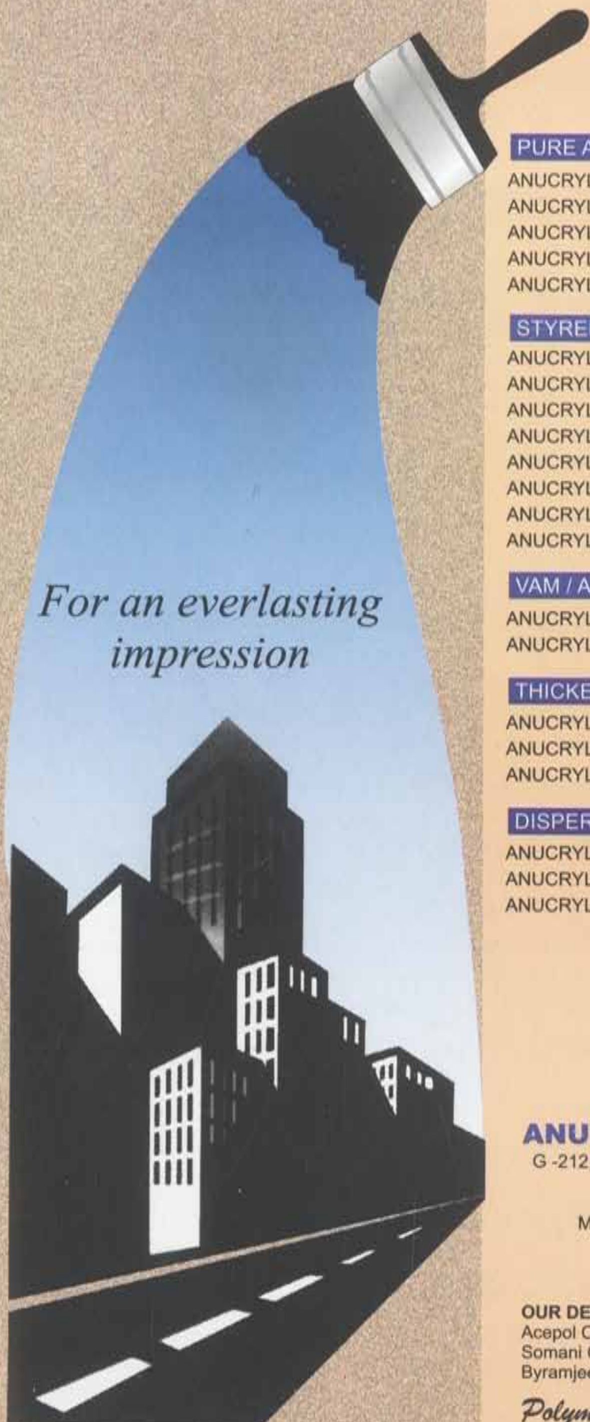

ANUCRYL®

Products for PAINT INDUSTRY

PURE ACRYLIC EMULSIONS

ANUCRYL K-101	Premium Exterior & Interior Paints
ANUCRYL C-333	Medium Glossy Paint
ANUCRYL S-511	High Gloss Exterior Paint
ANUCRYL K-5800	Exterior & Interior Paints
ANUCRYL C-355	Exterior & Interior Paints

STYRENE / ACRYLIC EMULSIONS

ANUCRYL C-168	Low & Mid - range Interior Paints & Distempers
ANUCRYL C-325	Interior Paints, Distempers & Road Marking Paints
ANUCRYL C-476	Exterior & Interior Paints, Road Marking Paints
ANUCRYL C-514	Exterior & Interior High Performance Paint
ANUCRYL C-766	Exterior & Interior Paints
ANUCRYL C-776	Exterior & Interior Paints
ANUCRYL C-777	Exterior & Interior High Build Textured Coating
ANUCRYL C-926	Exterior Elastomeric Paints & Coatings

VAM / ACRYLIC EMULSIONS

ANUCRYL C-60	Medium, High, PVC Exterior paint
ANUCRYL C-65	Exterior and Interior Paints

THICKENERS

ANUCRYL K-116	Thickens when Neutralized with Ammonia
ANUCRYL K-316	Thickener for Paints & Distempers
ANUCRYL K-3232	Thickener for Paints & Distempers

DISPERSING AGENTS

ANUCRYL - 50	Dispersing Agent for Inorganic Pigments
ANUCRYL - 505	Economical Dispersing Agent
ANUCRYL - 507	Superior Dispersing Agent, Imparts Stability to Paint Rheology

ANUVI®

Manufactured & Marketed by:

ANUVI CHEMICALS PRIVATE LIMITED

G -212, Godavari, Laxmi Industrial Premises, Pokharan Road No 1,
Vartak Nagar, Thane - 400 606, Maharashtra, India.
Tel : 022-2539 2219 / 6471
Mulund Tel: 2565 3818 / 25619928. Fax: 022-2539 2461
E-mail : anuvi@vsnl.com
Website : www.anuvichemicals.com

OUR DEALERS

Acepol Chemicals (Hyderabad)	Tel : (040) 3774961 / 3401
Somani Chemicals Industries (Bhilwara)	Tel : (01482) 368683 / 84
Byramjee Framjee & Co. (Kanpur)	Tel : (0512) 369876

Polymer chemistry for your success... from Anuvi

आर. एन. आई. पंजीकरण संख्या : ३५७६४/७९

Marriages are made in heaven and solemnised only at Shikara, "The Mini Kashmir of Navi Mumbai"

LARGEST MARRIAGE HALL SPREAD OVER AN AREA OF 15,000 SQ. FT.

- 5-star food and services at 3 st[illegible]es
- Banquet Services
- Ample parking space
- Choice of 5 party halls, 25-[illegible]sons capacity
- Traditional functions ca[illegible]anised in Separate venues for La[illegible] Gentlemen
- Outdoor Catering is our [illegible]ty
- Also available are Mehend[illegible]erson, Palmist, Magician, Ghazal Singers, Amusement park for children in the most elegantly designed Mini Kashmir of Navi Mumbai - Shikara

With every booking avail our bonanza offer of Two 5 star Super Deluxe room for 2 night stay

AN ALLURING LANDMARK IN NEW BOMBAY

SHAMIANA

The Meeting Place

FOR BUSINESS AND PLEASURE

with fine blending of traditional interiors, delicacies & a well stocked bar always remainest an opulance of wonder to especially you highway user...

SHAMIANA IS NOW OPEN FOR REGULAR SERVICES . . .

SHIKARA RESTAURANT

HOTEL HIGHWAY VIEW

Plot No.3, Opp. Sanpada Railway Station, Mumbai - Pune Road, Navi Mumbai - 400 705
Tel. : 2767 2195 / 2767 2196 / 2767 2197 # Fax : 2767 2199 / 2762 1226

e-mail : highway@indianbusiness.com web-site : www.indianbusiness.com/hotelhighwayview

मंजुश्री द्वारा संपादित व आर्ट होम, शांताराम साळुंके मार्ग, घोड़पदेव, मुंबई - ४०० ०३३ में मुद्रित.
टाइप सेटर्स : वन-अप प्रिंटर्स, १२वां रास्ता, द्वारका कुंज, चेंबूर, मुंबई - ४०० ०७१. फो. : २५२१ २३४८ व २५२१ ६२८४.